Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

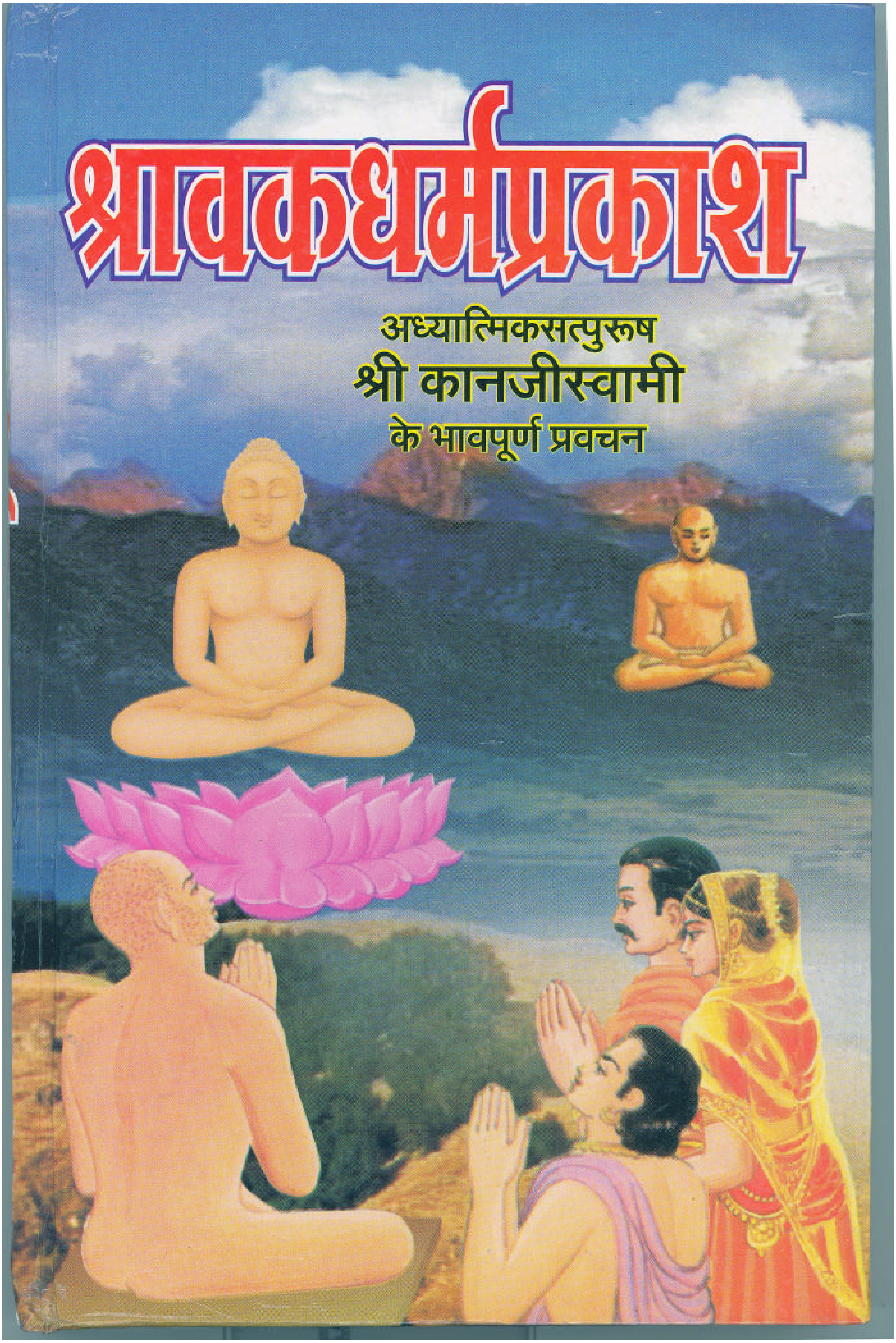

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आचार्य श्री पद्मनन्दी द्वारा रचित पद्मनन्दि–पंचविंशतिका के
देशव्रतोद्योतन अधिकार पर
पूज्य श्री कानजी स्वामी के भावपूर्ण प्रवचन

श्रावकधर्म प्रकाश

संकलन :

स्व॰ ब्र॰ हरिभाई

अनुवाद :

सोनचरण जैन, सनावद

एवं

प्रेमचंद जैन, एम.काम., सनावद

प्रकाशक :

श्रीमती नाजुकबाई सोनचरण, सनावद

एवं

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए – ४, बापूनगर, जयपुर – ३०२०१५

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रथम आठ संस्करण (१९६८ से अद्यतन)	:	१९ हजार ४००
नवम संस्करण (१५ अगस्त १९९९)	:	३ हजार
योग	:	२२ हजार ४००

मूल्य : ग्यारह रुपये

मुद्रक :
जे. के. ऑफसैट प्रिंटर्स
जामा मस्जिद,
दिल्ली – ६

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Thanks & Our Request

This shastra has been kindly donated by Dakshaben Sanghvi, Geneva, Switzerland who has paid for it to be "electronised" and made available on the internet.

Our request to you:

1) Great care has been taken to ensure this electronic version of
Sharavak Dharma Prakash (Hindi) is a faithful copy of the paper version. However if you find any errors please inform us on rajesh@AtmaDharma.com so that we can make this beautiful work even more accurate.

2) Keep checking the version number of the on-line shastra so that if corrections have been made you can replace your copy with the corrected one.

Version History

Version Number	Date	Changes
001	9 December 2009	First electronic version

प्रकाशकीय

पूज्य श्री कानजी स्वामी द्वारा प्रवाहित अध्यात्म धारा में समयसार, प्रवचनसार तथा नियमसार जैसे आध्यात्मिक ग्रंथराजों पर हुए उनके प्रवचनों का प्रकाशन तो हो ही रहा है, परन्तु स्वामी जी के व्यक्तित्व से पूर्णतः परिचित होने के लिए उनके चरणानुयोग के पोषक ग्रंथों पर हुए प्रवचन भी अवश्य पठनीय हैं।

आचार्य पद्मनन्दि द्वारा विरचित पद्मनन्दि पंचविंशतिका पर पूज्य गुरुदेवश्री ने तीन बार प्रवचन किये हैं। इस ग्रंथ का देशव्रतोद्योतन अधिकार स्वामीजी का बहुत प्रिय अधिकार था। इस अधिकार पर हुए प्रवचनों का संकलन स्व॰ ब्र॰ हरिभाई, सोनगढ़ ने बहुत ही सुन्दर ढंग से गुजराती भाषा में किया था। उसके आधार से श्री सोनचरणजी जैन एवं श्री प्रेमचन्दजी जैन सनावद वालों ने उसका हिन्दी अनुवाद किया जो अदिकल रूप से प्रकाशित किया गया है।

इस पुस्तक में श्रावक के धर्म का प्रकाश सुविशद रीति से किया गया है। श्रावक की चर्या कैसी होना चाहिए इस सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तिपूर्ण धारणाऐं समाज में व्याप्त हैं उन सबके निराकरण में पूज्य गुरुदेव श्री के ये प्रवचन पूर्ण समर्थ हैं। यही कारण है कि समाज में यह कृति काफी लोकप्रिय है, इस पुस्तक के अनेक संस्करण प्रकाशित होकर जनसामान्य तक पहुंच चुके हैं।

यह पुस्तक और अधिक जनोपयोगी बने इस भावना से इस संस्करण में कुछ आवश्यक परिवर्तन भी किये गए हैं। यद्यपि ये परिवर्तन कोई फेर बदल के नहीं हैं, अपितु पाठकों को पढ़ने में

सुविधा हो इस दृष्टि से किये गए हैं। जैसे बड़े–बड़े पैराग्राफों को तोड़ा गया है, शब्दों के साथ जुडी हुई मात्राऐं अलग की गई हैं। कतिपय स्थानों पर भाषा की दृष्टि से भी कुछ आवश्यक सुधार प्रतीत हुआ तो वहाँ वाक्य विन्यास में भी कुछ संशोधन किये गए हैं तथा कुछ शीर्षक भी बदले गए हैं।

पद्मनन्दि–पंचविंशतिका के देशव्रतोद्योतन अधिकार में 27 श्लोक हैं अतः प्रत्येक अधिकार के प्रारंभ में मूल श्लोक तथा उसका सामान्यार्थ दिया गया है। उसके बाद श्लोक का प्रवचन दिया गया है। खाली स्थान पर सप्रमाण कोटेशन भी दिए गए हैं। आशा है पाठकगण लाभान्वित होंगे।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन का दायित्व सदा की भांति प्रकाशन विभाग के प्रभारी श्री अखिल बंसल ने सम्हाला है, अतः वे धन्यवाद के पात्र हैं। जिन महानुभावों ने पुस्तक की कीमत कम करने में अपना आर्थिक सहयोग प्रदान किया है उनका हम हृदय से आभार मानते हैं। दातारों की सूची अन्यत्र प्रकाशित है। आशा है आप सभी इस पुस्तक के माध्यम से अपने भव का अभाव करने का मार्ग प्रशस्त करेंगे। इसी भावना के साथ –

मंत्री
सोनचरण लाल जैन
श्रीमती नाजुकबाई सोनचरण
सनावद

महामंत्री
नेमीचंद पाटनी
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
जयपुर

श्रावकधर्मप्रकाश

विषय-सूची

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
*	श्रावकधर्मप्रकाश (भूमिका)	९
१.	सर्वज्ञदेव की श्रद्धा	११
२.	सम्यग्दृष्टि की प्रशंसा	१९
३.	सम्यग्दर्शन की दुर्लभता	२९
४.	श्रावक के छह आवश्यक	३९
५.	सम्यग्दर्शनपूर्वक श्रावक के व्रत	५१
६.	श्रावक के बारह व्रत	५७
७.	सत्पात्रदान की प्रमुखता	६१
८.	आहारदान का स्वरूप	६८
९.	औषधिदान का स्वरूप	७४
१०.	ज्ञानदान का स्वरूप	७७
११.	अभयदान का स्वरूप	८६
१२.	दान का फल	९१
१३.	गृहस्थ दान क्यों करें?	९५
१४.	दान से लाभ	१०२
१५.	धन का उपयोग कैसे करें?	१०५
१६.	दान : मोक्ष का प्रथम कारण	१०८
१७.	मनुष्यभव प्राप्त करके क्या करना?	११२
१८.	जिनेन्द्रदर्शन का भावपूर्ण उपदेश	११७
१९.	कलियुग के कल्पवृक्ष	१२३
२०.	धर्मोन्नति में धर्मात्माओं का महत्त्व	१२६
२१.	वे श्रावक धन्य हैं	१२९
२२.	वीतरागता का प्रेमी	१३४
२३.	श्रावक की धर्मप्रवृत्ति के विविध प्रकार	१४३
२४.	परम्परा से मोक्ष के साधक श्रावक	१४७
२५.	मुमुक्षु को मोक्ष ही उपादेय	१५४
२६.	अणुव्रतादि की सफलता	१५९
२७.	देशव्रत की आराधना का अन्तिम फल	१६२
परिशिष्ट	स्वतन्त्रता की घोषणा	१६६

श्रावकधर्मप्रकाश

यह 'पद्मनन्दी-पंचविंशतिका' नामक शास्त्र का सातवाँ अधिकार चल रहा है। आत्मा के आनन्द में झूलनेवाले और वन जंगल में निवास करनेवाले वीतरागी दिगम्बर मुनिराज श्री पद्मनन्दी स्वामी ने लगभग ९०० वर्ष पहिले इस शास्त्र की रचना की थी। इसमें कुल छब्बीस अधिकार हैं, उनमें से 'देशव्रत-उद्योतन' नाम का सातवाँ अधिकार चल रहा है।

मुनिदशा की भावना धर्मी को होती है; परन्तु जिसके ऐसी दशा न हो सके, वह देशव्रतरूप श्रावक के धर्म का पालन करता है। उस श्रावक के भाव कैसे होते हैं; उसको सर्वज्ञ की पहिचान, देव-शास्त्र-गुरु का बहुमान आदि भाव कैसे होते हैं; आत्मा के भान सहित राग की मन्दता के प्रकार कैसे होते हैं; वे इसमें बतलाये गये हैं। इसमें निश्चय-व्यवहार का सामंजस्यपूर्ण सुन्दर वर्णन है।

यह अधिकार जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी होने से प्रवचन में तीसरी बार चल रहा है। पूर्व में दो बार (वीर निर्वाण सं० २४७४ तथा २४८१ में) इस अधिकार पर प्रवचन हो चुके हैं।

श्रीमद् राजचन्द्रजी को यह शास्त्र बहुत प्रिय था। उन्होंने इस शास्त्र को 'वनशास्त्र' कहा है और इन्द्रियनिग्रहपूर्वक उसके अभ्यास का फल अमृत है – ऐसा कहा है।

देशव्रतोद्योतन अर्थात् गृहस्थदशा में रहनेवाले श्रावक के धर्म का प्रकाश कैसे हो? उसका इसमें वर्णन है। गृहस्थदशा में भी धर्म हो सकता है। सम्यग्दर्शन सहित शुद्धि किसप्रकार बढ़ती है और राग किसप्रकार टलता है और श्रावक भी धर्म की आराधना करके परमात्मदशा के सन्मुख किसप्रकार जाये – यह बतलाकर इस अधिकार में श्रावक के धर्म का उद्योत किया गया है।

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

समन्तभद्र स्वामी ने भी रत्नकरंड श्रावकाचार में श्रावक के धर्मों का वर्णन किया है, वहाँ धर्म के ईश्वर तीर्थंकर भगवन्तों ने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को धर्म कहा है।[1] उसमें सबसे पहले ही सम्यग्दर्शन धर्म का वर्णन किया गया है और उसका कारण सर्वज्ञ की श्रद्धा बताई गई है।

यहाँ भी पद्मनन्दी मुनिराज श्रावक के धर्मों का वर्णन करते समय सबसे पहिले सर्वज्ञदेव की पहिचान कराते हैं। जिसे सर्वज्ञ की श्रद्धा नहीं, जिसे सम्यग्दर्शन नहीं; उसे तो मुनि अथवा श्रावक का कोई धर्म नहीं होता। धर्म के जितने प्रकार हैं, उन सबका मूल सम्यग्दर्शन है; अतः जिज्ञासु को सर्वज्ञ की पहिचानपूर्वक सम्यग्दर्शन का उद्यम तो सबसे पहिले होना चाहिए। उस भूमिका में भी राग की मन्दता इत्यादि के प्रकार किसप्रकार होते हैं, वे भी इसमें बताये गये हैं। निश्चय-व्यवहार की संधि सहित सुन्दर बात की गई है। सबसे पहिले सर्वज्ञ की और सर्वज्ञ के कहे हुये धर्म की पहिचान करने के लिए कहा गया है।

---

1. सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदु :—रत्नकरण्ड श्रावकाचर, श्लोक ३,

चरणानुयोग का प्रयोजन

जो जीव तत्त्वज्ञानी होकर चरणानुयोग का अभ्यास करते हैं, उन्हें यह सर्व आचरण अपने वीतराग भाव के अनुसार भासित होते हैं। एकदेश व सर्वदेश व वतीरागता होने पर ऐसी श्रावकदशा-मुनिदशा होती है; क्योंकि इनके निमित्त-नैमित्तिकपना पाया जाता है। ऐसा जानकर श्रावक-मुनिधर्म के विशेष पहिचानकर जैसा अपना वीतरागभाव हुआ हो, वैसा अपने योग्य धर्म को साधते हैं। वहाँ जितने अंश में वीतरागता होती है, उसे कार्यकारी जानते हैं; जितने अंश में राग रहता है, उसे हेय जानते हैं; सम्पूर्ण वीतरागता को परम धर्म मानते हैं। — ऐसा चरणानुयोग का प्रयोजन है।

— पण्डित टोडरमल

मोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अधिकार पृष्ठ २७१

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

सर्वज्ञदेव की श्रद्धा

वाह्याभ्यन्तरसंगवर्जनतया ध्यानेन शुक्लेन यः,
कृत्वा कर्मचतुष्टयक्षयमगात् सर्वज्ञतां निश्चितम्।
तेनोक्तानि वचांसि धर्मकथने सत्यानि नान्यानि तत्,
भ्राम्यत्यत्र मतिस्तु यस्य स महापापी न भव्योऽथवा ॥१॥

सामान्यार्थ :– जो बाह्य और अन्तरंग परिग्रह को छोड़ करके तथा शुक्लध्यान के द्वारा चार घातिया कर्मों को नष्ट करके निश्चय से सर्वज्ञता को प्राप्त हो चुके हैं, उनके द्वारा धर्म के व्याख्यान में कहे गये वचन सत्य हैं, इनसे भिन्न राग-द्वेष से दूषित हृदयवाले किन्हीं अल्पज्ञों के वचन सत्य नहीं हैं, इसीलिए जिस जीव की बुद्धि उक्त सर्वज्ञ के वचनों में भ्रम को प्राप्त होती है, वह अतिशय पापी है अथवा वह भव्य ही नहीं है।

श्लोक १ पर प्रवचन

श्रावक को प्रथम तो भगवान सर्वज्ञदेव और उनके वचनों की पहिचान तथा श्रद्धा होती है। सर्वज्ञ के स्वरूप में और उनके वचन में जिसे भ्रम होता है; वह तो मिथ्यात्व के महापाप में पड़ा हुआ है, उसे देशव्रत अथवा श्रावकपना नहीं होता – यह उद्घोषणा करनेवाला यह प्रथम श्लोक है।

देशव्रतरूप श्रावकधर्म का वर्णन करते समय सबसे पहले कहा है कि सर्वज्ञदेव के द्वारा कहा हुआ धर्म का स्वरूप ही सत्य है, इसके सिवाय अन्य का कहा हुआ सत्य नहीं – श्रावक की ऐसी निःशंक श्रद्धा होनी चाहिए; क्योंकि धर्म के मूल प्रणेता सर्वज्ञदेव हैं। जिसे उनका ही निर्णय नहीं, उसे धर्म का निर्णय नहीं हो सकता।

जो सर्वज्ञ हुये, वे किस रीति से हुये ?

"समस्त बाह्य तथा अभ्यंतर परिग्रह को छोड़कर और शुक्लध्यान द्वारा चार घाति कर्मों का नाश करके सर्वज्ञपना प्राप्त किया।"

देखो ! शुक्लध्यान कहो कि शुद्धोपयोग कहो, उससे कर्मों का क्षय होकर सर्वज्ञता प्रकट होती है; परन्तु बाहर के किसी साधन से अथवा राग के अवलंबन से कोई सर्वज्ञता नहीं प्रगटती।

मोक्षमार्गप्रकाशक के मंगलाचरण में भी अरिहन्तदेव को नमस्कार करते समय पण्डित टोडरमलजी ने कहा है :–

"जो गृहस्थपना छोड़कर, मुनिधर्म अंगीकार कर, निजस्वभाव साधन से चार घाति कर्मों का क्षयकर अनंतचतुष्टयरूप विराजमान हुये हैं – ऐसे श्री अरिहन्तदेव को हमारा नमस्कार हो।"

मुनिधर्म कैसा ? कि शुद्धोपयोगस्वरूप मुनिधर्म। उसे अंगीकार करके भगवान ने निजस्वभाव साधन से कर्मों का क्षय किया। कोई बाह्य साधन से अथवा राग के साधन से नहीं, परन्तु उन्होंने निश्चयरत्नत्रयरूप निजस्वभाव के साधन से ही कर्मों का क्षय किया है। इससे विपरीत साधन माने तो उसने भगवान का मार्ग नहीं जाना, भगवान को नहीं पहिचाना, भगवान को पहिचानकर नमस्कार करे, तब सच्चा नमस्कार कहलाये।

यहाँ प्रथम ही कहा गया है कि बाह्य-अभ्यन्तर संग को छोड़कर शुक्लध्यान से प्रभु ने केवलज्ञान पाया अर्थात् कोई जीव घर में रह करके बाहर में वस्त्रादिक का संग रख करके केवलज्ञान पा जावे – ऐसा नहीं बनता। अंतरंग के संग में मिथ्यात्वादि मोह को छोड़े बिना मुनिदशा या केवलज्ञान नहीं होता।

मुनि के महाव्रतादि का राग केवलज्ञान का साधन नहीं है; परन्तु उनको शुद्धोपयोगरूप निजस्वभाव ही केवलज्ञान का साधन है, उसे ही मुनिधर्म कहा गया है। यहाँ उत्कृष्ट बात बताने का प्रयोजन होने से शुक्लध्यान की बात ली गई है। शुक्लध्यान शुद्धोपयोगी मुनि को ही होता है। केवलज्ञान के साधनरूप इस मुनिधर्म का मूल सम्यग्दर्शन है और यह सम्यग्दर्शन सर्वज्ञदेव की तथा उनके वचनों की पहिचानपूर्वक होता है; इसलिए यहाँ श्रावकधर्म के वर्णन में सबसे पहिले ही सर्वज्ञदेव की पहिचान की बात ली गई है।

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आत्मा का भान करके, मुनिदशा प्रकट करके, शुद्धोपयोग की उग्र-श्रेणी मांड करके जो सर्वज्ञ हुये, उन सर्वज्ञ परमात्मा के वचन ही सत्य-धर्म का निरूपण करनेवाले हैं। ऐसे सर्वज्ञ को पहिचानने से आत्मा के ज्ञानस्वभाव की प्रतीति होती है और तब धर्म का प्रारम्भ होता है। जो सर्वज्ञ की प्रतीति नहीं करता; उसे आत्मा की ही प्रतीति नहीं, धर्म की ही प्रतीति नहीं। उसे तो शास्त्रकार 'महापापी अथवा अभव्य' कहते हैं। उसमें धर्म समझने की योग्यता नहीं, इसलिये उसे अभव्य कहा गया है।

जिसे सर्वज्ञ के स्वरूप में संदेह है, सर्वज्ञ की वाणी में जिसे संदेह हैं, सर्वज्ञ के सिवा अन्य कोई सत्यधर्म का प्रणेता नहीं है – ऐसा जो नहीं पहिचानता और विपरीत मार्ग में दौड़ता है; वह जीव मिथ्यात्वरूपी महापाप का सेवन करता है, उसमें धर्म के लिए योग्यता नहीं है – ऐसा कहकर धर्म के जिज्ञासु को सबसे पहले सर्वज्ञ की और सर्वज्ञ के मार्ग को पहिचान करने को कहा है।

अरे! तू ज्ञान की प्रतीति के बिना धर्म कहाँ करेगा? राग में खड़ा रहकर सर्वज्ञ की प्रतीति नहीं होती। राग से जुदा पड़कर, ज्ञानरूप होकर सर्वज्ञ की प्रतीति होती है। इसप्रकार ज्ञानस्वभाव के लक्ष्यपूर्वक सर्वज्ञ की पहिचान करके, उसके अनुसार धर्म की प्रवृत्ति होती है। सम्यक्त्वी ज्ञानी के जो वचन हैं, वे भी सर्वज्ञ अनुसार हैं, क्योंकि उसके हृदय में सर्वज्ञदेव विराजमान हैं। जिसके हृदय में सर्वज्ञ न हों, उसके धर्मवचन सच्चे नहीं होते।

देखो यह श्रावकधर्म का प्रथम चरण! यहाँ श्रावकधर्म का वर्णन करना है। सर्वज्ञदेव की पहिचान श्रावकधर्म का मूल है। मुनि या श्रावक के जितने भी धर्म हैं, उनका मूल सम्यग्दर्शन है। सर्वज्ञ की प्रतीति के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता और सम्यग्दर्शन के बिना श्रावक के देशव्रत या मुनि के महाव्रत नहीं होते। सम्यग्दर्शन सहित देशव्रती श्रावक कैसा होता है? उसके स्वरूप का इसमें वर्णन है, इसलिये इस अधिकार का नाम 'देशव्रतोद्योतन अधिकार' है।

सर्वज्ञदेव ने जैसा आत्मस्वभाव प्रकट किया और जैसा वाणी द्वारा कहा, वैसे आत्मा के अनुभव सहित निर्विकल्प प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है। सर्वज्ञ किसप्रकार हुए और उन्होंने क्या कहा – इसका यथार्थ ज्ञान सम्यग्दृष्टि को ही होता है। अज्ञानी को तो सर्वज्ञ किसप्रकार हुए,

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उसके उपाय की भी खबर नहीं और सर्वज्ञदेव ने क्या कहा, उसकी भी खबर नहीं है।

यहाँ तो कहते है कि जो सर्वज्ञ के मार्ग को नहीं पहिचानता और विपरीत मार्ग का आदर करता है; उसकी बुद्धि भ्रमित है, वह भ्रमबुद्धि-वाला है, मिथ्यात्वरूपी महापाप में डूबा हुआ है। उसे गृहस्थधर्म भी नहीं होता, तो मुनिधर्म की बात ही क्या ?

'बाह्य और अंतरंग सर्व संग छोड़कर शुक्लध्यान द्वारा भगवान सर्वज्ञ हुए हैं।' सम्यग्दर्शन और आत्मज्ञान तो पहले था, फिर मुनि होने पर बाह्य सर्व परिग्रह छोड़ा और अन्तरंग की अशुद्धता छोड़ी। जहाँ अशुद्धता छोड़ी, वहाँ निमित्तरूप में बाह्यसंग छोड़ा – ऐसा कहा जाता है। मुनिदशा में समस्त बाह्यसंग का त्याग है, देह के ऊपर वस्त्र का एक टुकड़ा भी नहीं होता, भोजन भी हाथ में लेते हैं, भूमि पर सोते हैं; अंत-रंग में शुद्धोपयोगरूप आचरण द्वारा अशुद्धता और उसके निमित्त छूट गये हैं। शुद्धोपयोग की धारारूप शुक्लध्यान के द्वारा स्वरूप को ध्येय में लेकर पर्याय को उसमें लीन करने का नाम ध्यान है। उसके द्वारा घाति कर्मों का नाश होकर केवलज्ञान हुआ है।

देखो ! पहिले पर्याय में अशुद्धता थी, ज्ञान-दर्शन अपूर्ण थे, मोह था; इसलिये घातिया कर्मों के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध था और अब शुद्धता होने से अशुद्धता दूर होने से कर्मों के साथ सम्बन्ध छूट गया, ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य परिपूर्णरूप से प्रकट हो गये और कर्मों का नाश हो गया। किस उपाय से ? शुद्धोपयोगरूप धर्म द्वारा। इसप्रकार इसमें ये तत्त्व आ जाते हैं – बन्ध, मोक्ष और मोक्षमार्ग। जो सर्वज्ञदेव द्वारा कहे हुए ऐसे तत्त्वों का स्वरूप समझे, उसे ही श्रावकधर्म प्रगट होता है।

धर्म का कथन करने में सर्वज्ञदेव के वचन ही सत्य हैं, अन्य के नहीं। सर्वज्ञ को माने बिना कोई कहे कि मैं स्वयमेव जानकर धर्म कहता हूँ – तो उसकी बात सच्ची नहीं होती और 'सर्वज्ञ अरहन्तदेव का मत तथा अन्य मत – सब एक समान हैं' – ऐसा जो माने, उसे भी धर्म के स्वरूप की खबर नहीं। जैन और अजैन सब धर्मों को समान माननेवाले को तो व्यवहारश्रावकपना भी नहीं। इसलिए श्रावकधर्म के वर्णन के प्रारम्भ में ही स्पष्ट कहा है कि सर्वज्ञ के वचन द्वारा कहा हुआ धर्म ही सत्य है और अन्य धर्म सत्य नहीं – ऐसी प्रतीति श्रावक को पहले ही होना चाहिये।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अहा, सर्वज्ञ ! ये तो जैनधर्म के देव हैं। देव के स्वरूप को भी जो न पहिचाने, उसे धर्म कैसा ? तीन लोक और तीन काल के समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायों को वर्तमान में सर्वज्ञदेव प्रत्येक समय में स्पष्ट जानते है—ऐसी बात भी जिसे नहीं रुचती, उसे तो सर्वज्ञदेव की या मोक्षतत्त्व की प्रतीति नहीं और आत्मा के पूर्णज्ञानस्वभाव की भी उसे खबर नहीं। श्रावक धर्मात्मा तो भ्रान्ति रहित सर्वज्ञदेव का स्वरूप जानता है और इसीप्रकार निजस्वरूप साधता है।

जैसे लेंडीपीपर के प्रत्येक दाने में चौसठपुटी चरपराहट भरी है, वही व्यक्त होती है; उसीप्रकार जगत के अनन्त जीवों में प्रत्येक जीव में सर्वज्ञता की शक्ति भरी है, उसका ज्ञान करके उसमें एकाग्र होने से वह प्रगट होती है। देह से भिन्न, कर्म से भिन्न, राग से भिन्न और अल्पज्ञता से भी भिन्न परिपूर्ण ज्ञ-स्वभावी आत्मा जैसा भगवान ने देखा और स्वयं प्रगट किया; वैसा ही वाणी में कहा है। वैसे आत्मा की और उसके कहने-वाले सर्वज्ञ की प्रतीति करने जाये, वहाँ रागादि की रुचि नहीं रहती।

संयोग, विकार या अल्पज्ञता की रुचि छूटकर स्वभावसन्मुख रुचि होती है, तभी सर्वज्ञ के द्वारा कहे हुए धर्म की पहिचान होती है और तभी श्रावकपना प्रगट होता है। जैनकुल में जन्म लेने से ही कोई श्रावक नहीं हो जाता; परन्तु अन्तर में जैन परमेश्वर सर्वज्ञदेव की पहिचान करे और उनके द्वारा कहे हुए वस्तुस्वरूप को पहिचाने, तभी श्रावकपना होता है। अरे ! श्रावकपना किसे कहते हैं – इसकी भी बहुत जीवों को खबर नहीं; इसलिये यहाँ देशव्रत-उद्योतन में पद्मनन्दी स्वामी ने श्रावक के धर्म का उद्योत किया है, उसका स्वरूप प्रकाशित किया है।

मांगलिक में हमेशा बोलते हैं कि **'केवलिपण्णत्तो धम्मो शरणं पव्वज्जामि'** अर्थात् मैं केवली भगवान के द्वारा कहे हुए धर्म की शरण ग्रहण करता हूँ; परन्तु सर्वज्ञ केवली कैसे हैं और उनके द्वारा कहे हुए धर्म का स्वरूप कैसा है, उसकी पहिचान बिना किसको शरण लेगा ? पहिचान करे तो सर्वज्ञ के धर्म की शरण लेना कहलाता है और उसे स्वाश्रय से सम्यग्दर्शनादि धर्म प्रगट होते है। मात्र बोलने से धर्म की शरण नहीं मिलती; परन्तु केवली भगवान ने जैसा धर्म कहा है, उसकी पहिचान करके अपने में वैसा भाव प्रगट करे तो केवली के धर्म की शरण ली कहलाये।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सबसे पहले सर्वज्ञदेव की और उनके द्वारा कहे हुए धर्म की पहिचान करने को कहा गया है। शास्त्रकार ने मात्र बाह्य अतिशय द्वारा या समवसरण के वैभव द्वारा भगवान की पहिचान नहीं कराई; परन्तु सर्वज्ञतारूप चिह्न द्वारा भगवान की पहिचान कराई तथा उनके द्वारा कहा हुआ धर्म ही सत्य है – ऐसा कहा है।

जगत में छह प्रकार के स्वतंत्र द्रव्य, नौ तत्त्व और प्रत्येक आत्मा का पूर्णस्वभाव जानकर स्वाश्रय से धर्म बतलानेवाली सर्वज्ञ की वाणी और रागादिक पराश्रितभाव से धर्म मनवानेवाली अज्ञानी की वाणी – इनके बीच विवेक करना चाहिये। स्वाश्रित शुद्धोपयोगरूप शुक्लध्यान के साधन से भगवान सर्वज्ञ हुए हैं।

प्रश्न :– वह शुक्लध्यान कैसा है ? क्या शुक्लध्यानका रंग सफेद है ?

उत्तर :– अरे भाई ! शुक्लध्यान तो चैतन्य के आनन्द के अनुभव में लीनता की धारा है, वह तो केवलज्ञान-प्राप्ति की श्रेणी है। उसका रंग नहीं होता। सफेद रंग तो रूपी पुद्गल की पर्याय है। यहाँ शुक्लध्यान में 'शुक्ल' का अर्थ सफेद रंग नहीं; परन्तु शुक्ल का अर्थ है राग की मलिनता रहित, उज्जवल, पवित्र। शुक्लध्यान तो अरूपी आत्मा की अरूपी पर्याय है। इस स्वरूपसाधन द्वारा ही भगवान ने केवलज्ञान पाया है। ऐसे साधन को पहिचाने तो भगवान की सच्ची पहिचान हो।

इस सर्वज्ञता को साधते-साधते वननिवासी सन्त पद्मनन्दी मुनिराज ने यह शास्त्र रचा है। वे आत्मा की शक्ति में जो पूर्णानन्द भरा है, उसकी प्रतीति करके उसमें लीनता द्वारा बोलते थे, सिद्ध भगवान के साथ अन्तर में अनुभव द्वारा बात करते थे और सिद्धप्रभु जैसा अतीन्द्रिय आनन्द का बहुत अनुभव करते थे; वहाँ भव्य जीवों पर करुणा करके यह शास्त्र रचा गया है। गृहस्थ का धर्म बतलाते हुए कहते हैं कि अरे जीव ! सबसे प्रथम तू सर्वज्ञदेव को पहिचान। सर्वज्ञदेव को पहिचानते ही अपनी सच्ची जाति पहिचान में आ जावेगी।

महाविदेहक्षेत्र में वर्तमान में सर्वज्ञ परमात्मा सीमंधरादि भगवन्त विराज रहे हैं, वहाँ लाखों सर्वज्ञ भगवन्त हैं, ऐसे अनन्त हो गये हैं और प्रत्येक जीव में ऐसी शक्ति है। अहो ! आत्मा की पूर्णदशा को प्राप्त सर्वज्ञ परमात्मा इस लोक में विराज रहे हैं – ऐसी बात कान में पड़ते ही जिसे

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आत्मा में ऐसा उल्लास आया कि वाह ! आत्मा का ऐसा वैभव ! आत्मा की ऐसी अचिंत्य शक्ति ! ज्ञानस्वभाव में सर्वज्ञ होने की और पूर्ण आनन्द की शक्ति है; मेरी आत्मा में भी ऐसी ही शक्ति है – इसप्रकार स्वभाव महिमा जिसे जागृत हुई; उसे शरीर की, राग की या अल्पज्ञता की महिमा नष्ट हो जाती है और उसकी परिणति ज्ञानस्वभाव की ओर झुक जाती है। उसका परिणमन संसारभाव से पीछे हटकर सिद्धपद की ओर लग जाता है। जिसकी ऐसी दशा होती है, उसे ही सर्वज्ञ की सच्ची श्रद्धा हुई है और सर्वज्ञदेव ने अल्पकाल में ही उसकी मुक्ति देखी है।

सर्वज्ञता की महिमा की तो बात ही क्या है ? इस सर्वज्ञ की पहिचान में भी कैसे अपूर्व भाव होते हैं और उसमें कितना पुरुषार्थ है, उसकी लोगों को खबर नहीं है। सर्वज्ञदेव को पहिचानते ही मुमुक्षु को उनके प्रति अपार भक्ति उल्लसित होती है। यहाँ पूर्ण ज्ञान-आनन्द को प्राप्त ऐसे सर्वज्ञ परमात्मा के प्रति पहिचानपूर्वक यथार्थ भक्ति उल्लसित हुई; वहाँ अब अन्य किसी की (पुण्य की या संयोग की) महिमा नहीं रहती, उसका आदर नहीं रहता और संसार में भटकने का भी सन्देह नहीं रहता।

अरे, ! जहाँ ज्ञानस्वभाव का आदर किया और जिस ज्ञान में सर्वज्ञ की स्थापना की, उस ज्ञान में अब भव कैसा ? ज्ञान में भव नहीं, भव का संदेह नहीं। अरे जीव ! एक बार तो सर्वज्ञ को पहिचानकर उनके गीत गा। इस पृथ्वीतल का मृग भी जिन भगवान के गीत सुनने के लिए ठेठ चन्द्रलोक में गया, तो यहाँ संत सर्वज्ञता की महिमा का गुणगान सुनायें और उसको सुनते हुए मुमुक्षु को भक्ति का उल्लास न आये – ऐसा कैसे बने ? ऐसे में सर्वज्ञ की पहिचान – यह श्रावक का पहला लक्षण है और धर्म का मूल है। जो सर्वज्ञ को नहीं पहिचानता, जिसे उनके वचनों में भ्रम है और जो विपरीत मार्ग को मानता है; उसे तो श्रावकपना नहीं होता और शुभभाव का भी ठिकाना नहीं है। मिथ्यात्व की तीव्रता के कारण उसे महापापी अथवा अपात्र कहा है; इसलिये मुमुक्षु को सर्वप्रथम सर्वज्ञदेव की पहिचान करनी चाहिए।

अहा नाथ ! आपने एक समय में तीन लोक व तीन काल को साक्षात् जाना और दिव्यवाणी में आत्मा के सर्वज्ञस्वभाव को प्रगट किया; आपकी वह वाणी हमने सुनी तो अब आपकी सर्वज्ञता में अथवा मेरे ज्ञानस्वभाव

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

में संदेह नहीं रहा। आत्मा में शक्ति भरी है, उसमें से सर्वज्ञता प्रगट होती है – ऐसी आत्मशक्ति की जिसे प्रतीति नहीं और बाहर के साधन से धर्म करना चाहता है; वह तो बड़ा अविवेकी है, दृष्टिहीन है।

ज्ञानस्वभाव की और सर्वज्ञ की श्रद्धा बिना 'शास्त्र में ऐसा लिखा और उसका अर्थ ऐसा होता है' – ऐसा ज्ञानी के साथ वाद-विवाद करे, वह तो आकाश में उड़ते पक्षियों को गिनने के लिए आँखवाले के साथ अन्धा होड़ करे – ऐसा है। ज्ञानस्वभाव की दृष्टि बिना सर्वज्ञ द्वारा कहे हुये शास्त्र के अर्थ को प्रगट करना अशक्य है, अतः पहले ही श्लोक में सर्वज्ञ की और उनकी वाणी की पहिचान करने को कहा गया है। सर्वज्ञ की श्रद्धा मोक्ष के मण्डप का माणिकस्तम्भ है; उस सर्वज्ञ के अर्थात् मोक्षतत्त्व के गीत गाकर उसकी श्रद्धारूप मांगलिक किया।

• • •

उनका महासौभाग्य है ?

यद्यपि दिव्यध्वनि भगवान के मुख से नहीं निकलती, सर्वांग से ॐकारध्वनिरूप निकलती है; तथापि जगज्जनों की अपेक्षा उसे 'मुखारविन्द से निकली' – ऐसा कहा जाता है। अहो ! आनन्द बरसाती हुई वाणी निकलती है, उस वाणी द्वारा आनन्द-स्वरूप आत्मा का निरूपण होता है, इसलिए उस वाणी को आनन्द देनेवाली कहा है – यह निमित्तापेक्षा कथन है। भगवान की वाणी में वीतरागता की बात आती है। वीतरागता तभी प्रगट होती है, जब कि स्व का आश्रय हो। आनन्द की अनुभवदशा का प्रगट होना ही जिनवाणी का सार है। इस दिव्यध्वनि को सुनकर चार ज्ञान के धारी गणधरदेव सिद्धान्त शास्त्रों की रचना करते हैं। ऐसी दिव्यवाणी जिनके कानों में पड़ती है, उनका महा सौभाग्य है।

– पूज्य श्री कानजी स्वामी

प्रवचनरत्नाकर भाग ३, पृष्ठ २५५

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सम्यग्दृष्टि की प्रशंसा

एकोप्यत्र करोति यः स्थितिमतिप्रीतः शुचौ दर्शने,
स श्लाघ्यः खलु दुःखितोऽप्युदयतो दुष्कर्मणः प्राणिभृत्।
अन्यैः किं प्रचुरैरपि प्रमुदितैरत्यन्तदूरीकृत,
स्फीतानन्दभरप्रदामृतपथैर्मिथ्यापथे प्रस्थितैः ॥२॥

सामान्यार्थः– एक भी जो भव्यप्राणी अत्यन्त प्रसन्नता से यहाँ निर्मल सम्यग्दर्शन के विषय में स्थिति को करता है अर्थात् प्रवृत्त होता है, वह पापकर्म के उदय से दुःखित होकर भी निश्चय से प्रशंसनीय है। इसके विपरीत जो मिथ्यामार्ग में प्रवृत्त होकर महान् सुख को प्रदान करनेवाले मोक्ष के मार्ग से बहुत दूर हैं, वे यदि संख्या में अधिक भी हों तो भी उनसे कुछ प्रयोजन नहीं है।

श्लोक २ पर प्रवचन

अब सर्वज्ञ की पहिचानवाले सम्यग्दृष्टि जीवों की विरलता बतलाकर उसकी महिमा करते हुए दूसरे श्लोक में कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि अकेला हो तो भी इस लोक में शोभनीय और प्रशंसनीय होता है।

देखिये ! इस सम्यग्दर्शन की विरलता बतलाकर कहते हैं कि इस जगत में अत्यन्त प्रीतिपूर्वक जो जीव पवित्र जैनदर्शन में स्थिति करता है अर्थात् शुद्ध सम्यग्दर्शन को निश्चलरूप से आराधता है, वह जीव चाहे एक ही हो और कदाचित् पूर्व कर्मोदय से दुःखी हो तो भी वह प्रशंसनीय है; क्योंकि वह सम्यग्दर्शन द्वारा परम आनन्ददायक अमृतमार्ग में स्थित है तथा जो अमृतमय मोक्षमार्ग से भ्रष्ट हैं और मिथ्यामार्ग में स्थित हैं – ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव बहुत हों और शुभकर्म से प्रमुदित हों तो भी उससे क्या प्रयोजन है ? – यह कोई प्रशंसनीय नहीं है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भाई ! संसार में तो कौवे-कुत्ते, कीड़े-मकोड़े इत्यादि अनंत जीव हैं; परन्तु जैनदर्शन प्राप्त कर जो जीव पवित्र सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय की आराधना करते हैं, वे ही जीव शोभनीय हैं। सम्यग्दर्शन के बिना पुण्य भी प्रशंसनीय या वांछनीय नहीं है। चाहे जगत में मिथ्यादृष्टि बहुत हों और सम्यग्दृष्टि चाहे थोड़े हों तो उससे क्या ?

जैसे जगत में कोयला बहुत हो और हीरा क्वचित् हो तो क्या उससे कोयले की कीमत बढ़ गई ? नहीं; थोड़ा हो तो भी जगमगाता हीरा शोभित होता है; उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव थोड़े हों तो भी जगत में शोभते हैं। हीरे हमेशा थोड़े ही होते हैं। जैनधर्म की अपेक्षा अन्य कुमत के माननेवाले जीव यहाँ बहुत दिखते हैं, उससे धर्मात्मा को कभी ऐसा संदेह नहीं होता है कि वे कुमत सच्चे होंगे ! वह निःशंकरूप से और परमप्रीति से जैनधर्म को अर्थात् सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय को आराधता है – ऐसे धर्मी जीवों से ही यह जगत शोभित हो रहा है।

सर्वज्ञदेव के द्वारा कहे हुए पवित्र दर्शन में जो प्रीतिपूर्वक स्थिति करता है अर्थात् निश्चलपने शुद्ध सम्यग्दर्शन को आराधता है, वह सम्यग्दृष्टि जीव अकेला हो तो भी जगत में प्रशंसनीय है। कदाचित् पूर्व के किसी दुष्कर्म के उदय से वह दुखित हो, बाहर की प्रतिकूलता से भरा हुआ हो, निर्धन हो, काला-कुबड़ा हो; तो भी अन्तरंग की अनन्त चैतन्य-ऋद्धि का स्वामी वह धर्मात्मा परम आनन्दरूप अमृतमार्ग में स्थित है। करोड़ों, अरबों में वह अकेला हो तो भी शोभता है, प्रशंसा पाता है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में समंतभद्रस्वामी कहते हैं :–

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजं।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसं॥

"जो जीव सम्यग्दर्शनसम्पन्न है, वह चांडाल के देह में उत्पन्न हुआ हो तो भी गणधरदेव उसे 'देव' कहते हैं। जैसे भस्म से ढँके हुए अंगारे के अन्दर प्रकाश – तेज है, उसीप्रकार चांडाल की देह से ढँका हुआ वह आत्मा अन्दर सम्यग्दर्शन के दिव्यगुण से प्रकाशित हो रहा है।"

सम्यग्दृष्टि जीव गृहस्थ हो तो भी मोक्षमार्ग में स्थित है। कदाचित् उसे भले ही बाहर की प्रतिकूलता हो, परन्तु अंदर में तो उसे चैतन्य के आनंद की लहर है। जो आनन्द इन्द्र के वैभव में भी नहीं है, उस आनंद का वह अनुभव करता है। उसे पूर्व कर्म का उदय डिगा नहीं सकता, क्योंकि वह सम्यक्त्व में निश्चल है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कोई जीव तिर्यंच हो और सम्यग्दर्शन प्राप्त कर चुका हो, रहने को मकान न हो; तो भी वह आत्मगुणों से शोभित होता है और मिथ्यादृष्टि जीव सिंहासन पर बैठा हो; तो भी वह नहीं शोभता, प्रशंसा नहीं पाता। बाहर के संयोग से आत्मा की कुछ शोभा नहीं है। आत्मा की शोभा तो अंदर के सम्यग्दर्शनादि गुणों से है।

अरे! छोटा-सा मेंढ़क हो, समवसरण में बैठा हो, वह भगवान की वाणी सुनकर अन्दर में उतरकर सम्यग्दर्शन द्वारा चैतन्य के अपूर्व आनन्द का अनुभव करे, वहाँ अन्य किस साधन की जरूरत है? और बाहर की प्रतिकूलता कैसे बाधक हो सकती है? इसलिये कहा है कि चाहे पापकर्म का उदय हो, परन्तु हे जीव! तू सम्यक्त्व की आराधना में निश्चल रह। पापकर्म का उदय हो तो उससे कोई सम्यक्त्व की कीमत नहीं चली जाती, उससे तो पापकर्म निर्जरता जाता है। चारों ओर से पापकर्म के उदय से घिरा हुआ हो, अकेला हो; तो भी जो जीव प्रीतिपूर्वक सम्यक्त्व को धारण करता है, वह अत्यन्त आदरणीय है। चाहे जगत में कोई उसे न मानें, चाहे औंधी (विपरीत) दृष्टिवाले उसका साथ न देवें, तो भी वह अकेला मोक्ष के मार्ग में आनन्दपूर्वक चला जाता है। उसने शुद्ध आत्मा में मोक्ष का अमृतमार्ग देख लिया है, उस मार्ग पर निःशंक चला जाता है। पूर्वकर्म का उदय उसके है ही कहाँ? उसकी वर्तमान परिणति उदय की तरफ कुछ भी नहीं झुकती, उसकी परिणति तो चैतन्यस्वभाव की तरफ झुककर आनन्दमयी बन गई है, उस परिणति से वह अकेला शोभित होता है।

जैसे जंगल में वन का राजा सिंह अकेला भी शोभित होता है, वैसे ही संसार में चैतन्य राजा सम्यग्दृष्टि अकेला भी शोभित होता है। सम्यक्त्व के साथ पुण्य हो तो ही वह जीव शोभा पावें – पुण्य की ऐसी अपेक्षा सम्यग्दर्शन में नहीं है। सम्यग्दृष्टि पाप के उदय से भी जुदा (भिन्न) है और पुण्य के उदय से भी जुदा है। वह दोनों से भिन्न अपने ज्ञान-भाव सम्यक्त्व से ही शोभित होता है। आनन्दमय अमृतमार्ग में आगे बढ़ता हुआ वह अकेला मोक्ष में चला जाता है। श्रेणिक राजा आज भी नरक में हैं; परन्तु अभी उनकी आत्मा सम्यक्त्व को प्राप्त कर मोक्षमार्ग में गमन कर रही है, थोड़े समय में वे तीनलोक के स्वामी होंगे।

जिसे सम्यग्दर्शन नहीं, जिसे धर्म की खबर नहीं, जो अमृतमार्ग से भ्रष्ट है और मिथ्यामार्ग में गमन करता है; वह जीव चाहे कदाचित्

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पुण्योदय के ठाठ से घिरा हुआ हो और लाखों-करोड़ों जीव उसे माननेवाले हों तो भी वह शोभित नहीं होता, प्रशंसा नहीं पाता।

अरे! धर्म में इसकी क्या कीमत? कोई कहे कि 'पवित्र जैनदर्शन के सिवा अन्य कोई विपरीत मार्ग को इतने सब जीव मानते हैं – इससे उसमें कोई शोभा होगी, कोई सच्चा होगा।' तो कहते हैं कि नहीं; इसमें अंशमात्र शोभा नहीं, सत्य नहीं। ऐसे मिथ्यामार्ग में लाखों जीव होवें तो भी वे नहीं शोभते; क्योंकि उन्हें आनन्द से भरे हुए अमृतमार्ग की खबर नहीं है, वे मिथ्यात्व के जहर से भरे हुए मार्ग में जा रहे हैं। जगत में किसी कुपंथ को लाखों मनुष्य मानें, इससे धर्मी को शंका नहीं होती कि उसमें कुछ शोभा होगी और सत्यपंथ के बहुत थोड़े जीव होवें, आप अकेला हो तो भी धर्मी को संदेह नहीं होता कि सत्यमार्ग यह होगा या अन्य होगा; – वह तो निःशंकरूप से परमप्रीतिपूर्वक सर्वज्ञ के कहे हुए पवित्र मार्ग को साधता है।

इसप्रकार सत्पंथ में अथवा मोक्षमार्ग में सम्यग्दृष्टि अकेला भी शोभा पाता है। जगत की प्रतिकूलता का घेरा उसे सम्यक्त्व से डिगा नहीं सकता।

यहाँ मोक्षमार्ग को आनन्द से परिपूर्ण अमृतमार्ग कहा है, इसी कारण भ्रष्ट मिथ्यामार्ग में स्थित लाखों-करोड़ों जीव भी नहीं शोभते और आनन्दपूर्ण अमृतमार्ग में एक-दो-तीन सम्यग्दृष्टि होवें तो भी वे जगत में शोभते हैं, अतः इस सम्यक्त्व को निश्चलरूप से धारण करो। मुनिधर्म हो अथवा श्रावकधर्म हो, सम्यग्दर्शन सबसे पहले है; सम्यग्दर्शन के बिना श्रावकधर्म अथवा मुनिधर्म नहीं होता; अतः हे जीव! तुझे धर्म करना हो और धर्मी होना हो तो पहले तू ऐसे सम्यग्दर्शन की आराधना कर! उसी से ही धर्मीपना होगा।

सत् का माप संख्या के आधार से नहीं होता है और सत् को दुनिया की प्रशंसा की आवश्यकता नहीं है। दुनिया में अधिक जीव मानें और अधिक जीव आदर देवें तो ही सत् को सत् कहा जावे – ऐसा नहीं है; थोड़े माननेवाले हों तो भी सत् शोभित होता है, सत् अकेला अपने से ही शोभा पाता है।

अहा! सर्वज्ञदेव द्वारा कहा हुआ आत्मा जिसकी प्रतीति में आ गया है, अनुभव में आ गया है – ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव पुण्य की मन्दता से

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कदाचित् धनहीन हो, पुत्रहीन हो, काला-कुबड़ा हो, रोगी हो, स्त्री अथवा तिर्यंच हो, चांडाल इत्यादि नीच कुल में जन्मा हो, लोक में अनादर होता हो, बाहर में असाता के उदय से दुःखी हो – ऐसे चाहे जितनी प्रतिकूलता के बीच खड़ा होते हुए भी सम्यग्दर्शन के प्रताप से वह अपने चिदानन्दस्वरूप में संतुष्टता से मोक्षमार्ग को साध रहा है; इस कारण वह जगत में प्रशंसनीय है, गणधरादि संत उसके सम्यक्त्व की प्रशंसा करते हैं। इसका आनन्दकन्द आत्मा कोई निर्धन नहीं, इसका आत्मा रोगी नहीं, इसका आत्मा काला-कुबड़ा अथवा चांडाल नहीं, इसका आत्मा स्त्री नहीं, वह तो अपने को चिदानन्दस्वरूप ही अनुभवता है। अन्दर में अनन्त गुणों की निर्मलता का खजाना इसके पास है।

कवि श्री दौलतरामजी सम्यग्दृष्टि की अन्तरंगदशा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि :–

"चिन्मूरत दृगधारी की, मोहे रीति लगत है अटापटी।
बाहर नारककृत दुःख भोगत, अन्तर सुखरस गटागटी॥"

क्या नारकी को बाह्य में कोई अनुकूलता है? नहीं; तो भी वह सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है, छोटा मेंढ़क भी सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है; वे प्रशंसनीय हैं। ढाई द्वीप में समवसरण आदि में बहुत से तिर्यंच सम्यग्दृष्टि हैं, इसके बाद ढाई द्वीप के बाहर तो असंख्यात तिर्यंच आत्मा के ज्ञानसहित चौथे-पाँचवें गुणस्थान में विराज रहे हैं। सिंह, बाघ और सर्प जैसे प्राणी भी सम्यग्दर्शन प्राप्त करते हैं, वे जीव प्रशंसनीय हैं।

अन्दर से चैतन्य का पाताल फोड़कर सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ है, उसकी महिमा की क्या बात? जो बाहर के संयोग से देखे, उसे यह महिमा दिखाई नहीं देती है, परन्तु अन्दर आत्मा की दशा क्या है; उसे पहिचाने तो उसकी महिमा का ज्ञान होता है। सम्यग्दृष्टि ने आत्मा के आनन्द को देखा है, उसका स्वाद चखा है, भेदज्ञान हुआ है; वह वास्तव में आदरणीय है, पूज्य है।

बड़े राजा-महाराजा को प्रशंसनीय नहीं कहा, स्वर्ग के देव को भी प्रशंसनीय नहीं कहा; परन्तु सम्यग्दृष्टि को प्रशंनीय कहा है; भले ही वह तिर्यंच पर्याय में हो, नरक में हो, देव में हो या मनुष्य में हो, वह सर्वत्र प्रशंसनीय है। जो सम्यग्दर्शन की साधना कर रहे हैं, वे ही धर्म में अनुमोदनीय, हैं। सम्यग्दर्शन के बिना बाह्य त्याग, व्रत या शास्त्रज्ञान आदि

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

बहुत हो तो भी आचार्यदेव कहते हैं कि यह हमको प्रशंसनीय नहीं लगता; क्योंकि यह कोई आत्मा के हित का कारण नहीं है, हित का मूल कारण तो सम्यग्दर्शन है। करोड़ों-अरबों जीवों में एक ही सम्यग्दृष्टि हो तो भी वह उत्तम है — प्रशंसनीय है और विपरीत मार्ग में बहुत हों तो भी वे प्रशंसनीय नहीं हैं। ऐसा समझकर हे जीव! तू सम्यग्दर्शन की आराधना कर — ऐसा तात्पर्य है।

शरीर क्या आत्मा का है? जो अपना नहीं, वह चाहे जैसा हो, उसके साथ आत्मा का क्या सम्बन्ध है? इसलिए धर्मी का महत्त्व संयोग से नहीं, निज चिदानन्द स्वभाव की अनुभूति से ही है।

हजारों भेड़ों के समूह की अपेक्षा जंगल में अकेला सिंह भी शोभता है, उसीप्रकार जगत के लाखों जीवों में सम्यग्दृष्टि अकेला भी (गृहस्थपने में हो तो भी) शोभता है। मुनि सम्यग्दर्शन के बिना नहीं शोभता और सम्यग्दृष्टि मुनिपना के बिना भी शोभता है। वह मोक्ष का साधक है, वह जिनेश्वरदेव का पुत्र है; लाख प्रतिकूलताओं के बीच में भी वह जिनशासन में शोभता है। मिथ्यादृष्टि करोड़ों हों और सम्यग्दृष्टि एक-दो ही हों तो भी सम्यग्दृष्टि ही शोभते हैं।

बहुत चींटियों का समूह एकत्रित हो जाय, उससे कोई उनकी कीमत बढ़ नहीं जाती; वैसे ही मिथ्यादृष्टि जीव बहुत इकट्ठे हो जावें, उससे वे प्रशंसा प्राप्त नहीं करते। सम्यग्दर्शन के बिना पुण्य के बहुत संयोग प्राप्त हों तो भी आत्मा नहीं शोभता और नरक में जहाँ हजारों-लाखों या असंख्यात वर्षों पर्यन्त अनाज का कण या पानी की बूँद भी नहीं मिलती, वहाँ भी आनन्दकंद आत्मा का भान कर सम्यग्दर्शन से आत्मा शोभित हो उठता है। *प्रतिकूलता कोई दोष नहीं और अनुकूलता कोई गुण नहीं है। गुण-दोषों का सम्बन्ध बाहर के संयोग के साथ नहीं; है। आत्मा के

---

* जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करते हुए 'दर्शनपाठ' में हम नीचे का श्लोक बोलते हैं, उसमें भी यह भावना गुँथी हुई है :—

जिनधर्मविनिर्मुक्तो मा भवत् चक्रवर्त्यपि।
स्यात् चेटोपि दरिद्रोपि जिनधर्मानुवासितः॥

अर्थात् जिनधर्म से रहित चक्रवर्ती पद भी न होवे, बल्कि जिनधर्म की महिमा से सुवासित चाण्डाल अथवा दरिद्र भी होना ठीक है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

स्वभाव की और सर्वज्ञदेव की श्रद्धा सच्ची है या खोटी, उसके ऊपर गुण-दोष का आधार है।

धर्मीजीव स्वस्वभाव के अनुभव से – श्रद्धा से अत्यन्त संतुष्टरूप रहते हैं, जगत के किसी संयोग की वांछा उन्हें नहीं होती। सम्यग्दर्शन रहित जीव हजारों शिष्यों से पूजित हो तो भी वह प्रशंसनीय नहीं और विरले सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को माननेवाले कोई न हों तो भी वह प्रशंसनीय है; क्योंकि वह मोक्ष का पथिक है, वह सर्वज्ञ का 'लघुनन्दन' है। मुनि तो सर्वज्ञ के ज्येष्ठ पुत्र हैं और सम्यग्दृष्टि लघुनन्दन अर्थात् छोटे पुत्र हैं। भले ही वे छोटे पुत्र हों, परन्तु हैं तो सर्वज्ञ के उत्तराधिकारी; वे अल्पकाल में तीन लोक के नाथ – सर्वज्ञ होंगे।

रोगादि जैसी प्रतिकूलता में भी 'मैं स्वयंसिद्ध चिदानन्दस्वभावी परमात्मा हूँ' – ऐसी निजात्मा की अन्तर-प्रतीति धर्मी से नहीं छूटती। आत्मा के स्वभाव की ऐसी प्रतीति सम्यग्दर्शन है और उसमें सर्वज्ञदेव की वाणी निमित्तरूप है। उसमें जिसे संदेह है, उस जीव को धर्म नहीं होता। सम्यग्दृष्टि जिनवचन में और जिनवाणी में दर्शाये आत्मस्वभाव में प्रतीति कर सम्यग्दर्शन में निश्चलरूप से स्थिति करते हैं। ऐसे जीव जगत में तीनों काल में विरले ही होते हैं। वे भले ही थोड़े हों, तो भी वे प्रशंसनीय हैं। जगत के सामान्यजीव भले उन्हें नहीं पहिचानें; परन्तु सर्वज्ञ भगवंतों, सन्तों और ज्ञानियों के द्वारा वे प्रशंसा के पात्र हैं; भगवान और सन्तों ने उन्हें मोक्षमार्ग में स्वीकार किया है। जगत में इससे बड़ी अन्य कोई प्रशंसा है? बाहर में चाहे जैसा प्रतिकूल प्रसंग हो तो भी सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा पवित्र दर्शन से चलायमान नहीं होता।

प्रश्न :– चारों ओर प्रतिकूलता से घिरे हुए ऐसे दुखिया को सम्यग्दर्शनप्राप्ति का अवकाश कहाँ से मिलेगा?

उत्तर :– भाई! सम्यग्दर्शन में क्या कोई संयोग की आवश्यकता है? प्रतिकूल संयोग कोई दुःख के कारण नहीं और अनुकूल संयोग कोई सम्यक्त्व के कारण नहीं। आत्मस्वरूप में भ्रांति ही दुःख का कारण है और आत्मस्वरूप की निर्भ्रान्त प्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन ही सुख का कारण है। यह सम्यग्दर्शन कोई संयोगों के आश्रय से नहीं है, परन्तु अपने सहज स्वभाव के ही आश्रय से है।

अरे! नरक में तो कितनी असह्य प्रतिकूलता है! वहाँ खाने को

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अन्न या पीने को पानी नहीं मिलता, सर्दी-गर्मी का पार नहीं, शरीर में पीड़ा का पार नहीं, कुछ भी सुविधा नहीं; तो भी वहाँ पर (सातवें नरक में भी) असंख्यात जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त कर चुके हैं। वह उन्होंने किस आधार से प्राप्त किया ? संयोग का लक्ष छोड़, परिणति को अंतर में लगाकर आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन प्राप्त किया है। नरक में भी यह सम्यग्दर्शन होता है, तो यहाँ क्यों न होवे ? यहाँ कोई नरक जितनी तो प्रतिकूलता नहीं है ? आप अपनी रुचि पलट आत्मा की दृष्टि करे तो संयोग कोई विघ्न नहीं करते। अपनी रुचि न पलटावे और संयोग का दोष बतावे तो वह मिथ्याबुद्धि है।

यहाँ 'पैसा अथवा पुण्य हो तो जीव प्रशंसनीय है' – ऐसा नहीं कहा है; परन्तु 'जिसके पास धर्म है, वही जीव प्रशंसनीय है' – ऐसा कहा है। क्या पैसा अथवा पुण्य आत्मा के स्वभाव की चीज है ? जो अपने स्वभाव की चीज न हो, उससे आत्मा की शोभा कैसे होवे ? हे जीव ! तेरी शोभा तो तेरे निर्मल भावों से है, अन्य से तेरी शोभा नहीं। अन्तर्स्वभाव की प्रतीति करके उसमें तू स्थित रह; बस, इतनी ही तेरी मुक्ति में देर है।

अनुकूल-प्रतिकूल संयोग के आधार से धर्म-अधर्म का कोई माप नहीं है। धर्मी हो, उसे प्रतिकूलता आवे ही नहीं – ऐसा नहीं है। हाँ, इतना सत्य है कि प्रतिकूलता में धर्मी जीव अपने धर्म को नहीं छोड़ता। कोई कहे कि धर्मी के पुत्र इत्यादि मरते ही नहीं, धर्मी के रोग होता ही नहीं, धर्मी के जहाज डूबते ही नहीं; तो उसकी बात सच्ची नहीं। उसको धर्म के स्वरूप की खबर नहीं है। धर्मी को भी पूर्वपाप का उदय होने पर ऐसा भी हो सकता है। किसी समय धर्मी के पुत्रादि की आयु थोड़ी भी है और अज्ञानी के पुत्रादि की आयु विशेष हो; परन्तु उससे क्या ? यह तो पूर्व के बँधे हुये शुभ-अशुभ कर्म के खेल हैं। इसके साथ धर्म-अधर्म का सम्बन्ध नहीं। धर्मी की शोभा तो अपनी आत्मा से ही है। संयोग से इसकी कोई शोभा नहीं है। मिथ्यादृष्टि को संयोग किसी समय अनुकूल होवे; परन्तु अरे ! मिथ्यामार्ग का सेवन, वह महादुःख का कारण है, इसकी प्रशंसा क्या ? कुदृष्टि की – कुमार्ग की प्रशंसा धर्मी जीव नहीं करता।

सम्यक्प्रतीति द्वारा निजस्वभाव से जो जीव भरा हुआ है और पाप के उदय के कारण संयोग से रहित है (अर्थात् अनुकूल संयोग जिसे नहीं है) तो भी उसका जीवन प्रशंसनीय है, सुखी है। मैं मेरे सुखस्वभाव

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

से भरा हुआ हूँ और संयोग से खाली हूँ – ऐसी अनुभूति धर्मी को सदा ही वर्तती है। वह सत्य का सत्कार करनेवाला है, आनंददायक अमृतमार्ग पर चलनेवाला है और जो जीव स्वभाव से तो खाली है – पराश्रय की श्रद्धा करता है अर्थात् आनंद से भरे हुए निजस्वभाव को जो नहीं देखता और विपरीतदृष्टि से राग को ही धर्म मानता है, संयोग से और पुण्य से अपने को भरा हुआ मानता है, वह जीव बाहर के संयोग से सुखी जैसा दिखता हो तो भी वह वास्तव में महादुःखी है, संसार के ही मार्ग में है। बाहर का संयोग कोई वर्तमान धर्म का फल नहीं। धर्मीजीव बाहर से चाहे खाली हो; परन्तु अंतर में भरे हुए श्रद्धा, तद्रूप ज्ञान और बल से वह केवलज्ञानी होगा और जो जीव संयोग से भरा हुआ; परन्तु स्वभावज्ञान से शून्य (खाली) है, वह सम्यग्दर्शन से रहित है। वह विपरीतदृष्टि से संसार में कष्ट उठावेगा। आत्मा को स्वभाव से भरा हुआ और संयोग से खाली माना तो वह उसके फल में संयोग रहित ऐसे सिद्धपद को प्राप्त करेगा।

संयोग से आत्मा की महत्ता नहीं है – इस संबंध में श्रीमद राजचन्द्रजी 'अमूल्य तत्त्वविचार' में कहते हैं :–

लक्ष्मी बढ़ी अधिकार भी, पर बढ़ गया क्या बोलिये ?
परिवार और कुटुम्ब है क्या, वृद्धि कुछ नहिं मानिये ॥
संसार का बढ़ना अरे, नरदेह को यह हार है।
नहिं एक क्षण तुझको अरे, इसका विवेक-विचार है ॥

अरे ! संयोग से आत्मा की महत्ता मानी – यह तो स्वभाव को भूलकर इस अनमोल मनुष्यभव को हारने जैसा है; अतः हे भाई ! इस मनुष्यभव को प्राप्तकर 'आत्मा का भान कैसे हो और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होकर भवभ्रमण कैसे मिटे,' उसका पुरुषार्थ कर।

जगत में असत् माननेवाले बहुत होवें, उससे क्या और सत्य धर्म समझनेवाले थोड़े ही हों, उससे क्या ? उससे कोई असत् की कीमत बढ़ जावे और सत् की कीमत घट जावे – ऐसा नहीं है। कीड़ी के दल बहुत से हों और मनुष्य थोड़े हों – इससे कोई कीड़ी की कीमत बढ़ नहीं जाती। जगत में सिद्ध सदा थोड़े और संसारी जीव बहुत हैं, क्या उससे सिद्ध की अपेक्षा संसारी की कीमत बढ़ गई ? जैसे अफीम का चाहे बड़ा ढेला हो तो भी वह कड़वा है और शक्कर की छोटी-सी कणिका हो तो भी वह मीठी है; उसीप्रकार मिथ्यामार्ग में करोड़ों जीव हों तो भी वह मार्ग

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जहर जैसा है और सम्यक्‌मार्ग में चाहे थोड़े जीव हों तो भी वह मार्ग अमृत जैसा है।

जैसे थाली चाहे सोने की हो, परन्तु यदि उसमें जहर भरा हो तो वह नहीं शोभता और खानेवाला मरता है; उसीप्रकार कोई जीव चाहे पुण्य के ठाठ के मध्य में पड़ा हो, परन्तु यदि वह मिथ्यात्वरूपी जहर सहित है तो वह नहीं शोभता, वह संसार में भावमरण कर रहा है। परन्तु जिसप्रकार थाली चाहे लोहे की हो, किन्तु उसमें अमृत भरा हो तो वह शोभा पाती है और खानेवाले को तृप्ति देती है। उसीप्रकार चाहे प्रतिकूलता के समूह में पड़ा हो; परन्तु जो जीव सम्यग्दर्शनरूपी अमृत से भरा हुआ है, वह शोभता है, वह आत्मा के परमसुख को अनुभवता है और अमृत जैसे सिद्धपद को प्राप्त करता है।

'परमात्मप्रकाश' की टीका में कहा है :–

"वरं नरकवासोऽपि सम्यक्त्वेन हि संयुतः।
न तु सम्यक्त्वहीनस्य निवासो दिवि राजते ॥[1]

सम्यक्त्व सहित जीव का नरकवास भी भला है और सम्यक्त्व रहित जीव का देवलोक में निवास होना भी नहीं शोभता। सम्यग्दर्शन के बिना देवलोक के देव भी दुःखी ही हैं।"

वहीं शास्त्र में उन्हें पापी कहा है :–

"सम्यक्त्वरहिताः जीवाः पुण्यसहिता अपि पापजीवा भण्यन्ते।[2]

सम्यक्त्व रहित जीव पुण्यसहित होने पर भी पापजीव कहलाते हैं।"

ऐसा जानकर श्रावक को सबसे पहले सम्यक्त्व की आराधना करनी चाहिए।

---

1. श्री ब्रह्मदेव सूरी : परमात्मप्रकाश, दोहा १८५ की संस्कृत टीका
2. वही

• • •

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सम्यग्दर्शन की दुर्लभता

बीजं मोक्षतरोर्दृशं भवतरोर्मिथ्यात्वमाहुर्जिनाः
प्राप्तायां दृशि तन्मुमुक्षुभिरलं यत्नो विधेयो बुधैः ।
संसारे बहुयोनिजालजटिले भ्राम्यन् कुकर्मावृतः
क्व प्राणी लभते महत्यपि गते काले हितां तामिह ।।३।।

सामान्यार्थ :– जिनेन्द्र भगवान ने सम्यग्दर्शन को मोक्षरूपी वृक्ष का बीज तथा मिथ्यादर्शन को संसाररूपी वृक्ष का बीज बतलाया है: – ऐसा सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाने पर मोक्षाभिलाषी विद्वज्जनों को उसके संरक्षण आदि के विषय में महान् प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि यह जीव पापकर्म से आच्छन्न होकर बहुत (चौरासी लाख) योनियों के समूह से जटिल इस संसार में परिभ्रमण करके दीर्घकाल के बीतने पर भी हितकारक सम्यग्दर्शन को कैसे प्राप्त कर सकता है ? अर्थात् नहीं प्राप्त कर सकता है ।

(श्लोक ३ का प्रवचन)

पहली गाथा में 'भगवान सर्वज्ञदेव की और उनकी वाणी की पहिचान तथा श्रद्धा होने पर ही श्रावकधर्म होता है' – ऐसा बतलाया और दूसरी गाथा में 'ऐसी श्रद्धा करनेवाले सम्यग्दृष्टि जीव थोड़े हों तो भी वे प्रशंसनीय हैं' – ऐसा बतला कर उसकी आराधना का उपदेश दिया है । अब, तीसरी गाथा में श्री पद्मनंदी स्वामी उस सम्यग्दर्शन को मोक्ष का बीज कहकर उसकी प्राप्ति के लिये परम उद्यम करने को कहते हैं ।

मोक्षरूपी वृक्ष का बीज सम्यग्दर्शन है और संसाररूपी वृक्ष का बीज मिथ्यात्व है – ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेव ने कहा है । इसलिए मुमुक्षु को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हेतु अत्यधिक प्रयत्न करना कर्तव्य है । अरे !

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

संसार में अनंत भव में सम्यग्दर्शन के बिना जीव कुकर्मों से भटक रहा है, दीर्घकाल व्यतीत होने पर भी प्राणी सम्यग्दर्शन को क्या पा सका? अरे! सम्यग्दर्शन की प्राप्ति महादुर्लभ है; अतः हे जीव! तू सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए परम उद्यम कर और उसको पाकर अत्यन्त यत्न से उसकी रक्षा कर।

कुन्दकुन्द स्वामी ने अष्टपाहुड के प्रारम्भ में ही कहा है कि "**दंसण-मूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेंहिं सिस्साण**"[1] अर्थात् जिनवरदेव ने 'दर्शन जिसका मूल है' – ऐसा धर्म शिष्यों को उपदेशा है। जैसे बिना मूल वृक्ष नहीं; वैसे सम्यग्दर्शन बिना धर्म नहीं। चौदह गुणस्थानों में सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थान में होता है और व्रत पाँचवें गुणस्थान में होते हैं, मुनिदशा छठवें-सातवें गुणस्थान में होती है। सम्यग्दर्शन के बिना मात्र शुभराग से ही पाँचवाँ-छठवाँ गुणस्थान अथवा धर्म माने, मोक्षमार्ग मान ले तो उसमें मिथ्यात्व का पोषण होता है। मोक्षमार्ग के क्रम की भी उसे खबर नहीं है। मोक्षमार्ग में पहले सम्यग्दर्शन है. उसके बिना धर्म का प्रारम्भ नहीं होता, उसके बिना श्रावकपना या मुनिपना सच्चा नहीं होता। अरे जीव! धर्म का स्वरूप क्या है और मोक्षमार्ग का क्रम क्या है, उसे पहले जानो। सम्यग्दर्शन के बिना पुण्य तूने अनन्तबार किया तो भी तू संसार में ही भटका और तूने दुःख ही भोगे, अतः समझ ले कि पुण्य कोई मोक्ष का साधन नहीं है। मोक्ष का बीज तो सम्यग्दर्शन है।

वह सम्यग्दर्शन कैसा होता है? रागादि की अशुद्धता से रहित आत्मा का शुद्ध भूतार्थस्वभाव कैसा है – इसकी अनुभूति से ही आत्मा सम्यग्दृष्टि होता है। जिससमय से सम्यग्दृष्टि होता है, उसीसमय से ही मोक्षमार्गी होता है। पश्चात् इसी भूतार्थस्वभाव के अवलम्बन में आगे बढ़ते-बढ़ते शुद्धि अनुसार पाँचवाँ-सातवाँ इत्यादि गुणस्थान प्रकट होते हैं। चौथे की अपेक्षा पाँचवें गुणस्थान में स्वभाव का विशेष अवलम्बन है, वहाँ अप्रत्याख्यान सम्बन्धी चारों कषायें भी छूट गई हैं और वीतरागी आनन्द बढ़ गया है। सर्वार्थसिद्धि के देव की अपेक्षा पंचम गुणस्थानवर्ती मेढ़क को आत्मा का आनन्द अधिक है, परन्तु यह दशा (पंचम गुणस्थान की) सम्यग्दर्शनपूर्वक ही होती है; अतः सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का परमप्रयत्न करना कर्तव्य है।

अरे! चौरासी के अवतार में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति बहुत दुर्लभ है।

---

1. अष्टपाहुड; दर्शनपाहुड, गाथा २

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सम्यक्त्वी को रागादि परिणाम आते हुए भी उसकी अन्तर की दृष्टि में से शुद्धस्वभाव कभी भी खिसकता नहीं है। यहाँ श्रावक के व्रतरूप शुभ-भाव करने का उपदेश दिया जावेगा, तो भी धर्मी की दृष्टि में राग की मुख्यता नहीं, परन्तु शुद्धस्वभाव की ही मुख्यता है। दृष्टि में यदि स्वभाव की मुख्यता छूटकर राग की मुख्यता हो जावे तो सम्यग्दर्शन भी न रहे। शुद्धस्वभाव में मोक्षदशा को विकसित कर देने की शक्ति है। जिसने इस शुद्धस्वभाव को प्रतीति में लेकर सम्यग्दर्शन प्रगट किया, उसने मोक्ष का वृक्ष आत्मा में बो दिया और चौरासी के अवतार का बीज जला दिया; अतः हे मुमुक्षु ! तू ऐसे सम्यक्त्व का परम उद्यम कर।

जहाँ सम्यग्दर्शन नहीं, वहाँ धर्म नहीं है। जिसे भूतार्थस्वभाव का भान नहीं और राग में एकत्वबुद्धि है, उसे धर्म कैसा ? वह शुभराग से व्रतादि करे तो वह भी बालव्रत हैं और उस बालव्रत के राग को धर्म माने तो 'बकरी निकालते ऊँट प्रवेश कर गया' – ऐसा होता है। थोड़ा अशुभ को छोड़कर शुभ को धर्म मानने गया, वहाँ मिथ्यात्व का मोटा अशुभरूपी ऊँट ही प्रवेश कर गया: अतः श्रावक को सबसे पहले सर्वज्ञ के वचनानुसार यथार्थ वस्तुस्वरूप जानकर परम उद्यमपूर्वक सम्यक्त्व प्रगट करना चाहिये। जीव की शोभा सम्यक्त्व से ही है।

संयोग चाहे जितने प्रतिकूल हों, परन्तु अन्तरंग में चिदानन्दस्वभाव की प्रतीति करके श्रद्धा में पूर्ण आत्मा की अनुकूलता प्रगट की तो वह धन्य है।

आत्मा के स्वभाव से विरुद्ध मान्यतारूप उल्टी श्रद्धा बड़ा अवगुण है, बाहर की प्रतिकूलता होना अवगुण नहीं है।

अन्तर में चिदानन्दस्वभाव की प्रतीति करके मोक्षमार्ग प्रगट करना महान सद्गुण है, बाहर में अनुकूलता का ठाट होना कोई गुण नहीं है।

आत्मा की धर्मसम्पदा किससे प्रगट होती है ? उसकी जिसे खबर नहीं, वही महान दरिद्री है और भव-भव में भटककर दुःख को भोगता है। जिस धर्मात्मा को आत्मा की स्वभावसम्पदा का भान हुआ है, उसके पास तो इतना बड़ा चैतन्यखजाना भरा है कि उसमें से केवलज्ञान और सिद्धपद प्रगटेगा। वर्तमान में पुण्य का ठाट भले न हो तो भी वह जीव महान प्रशंसनीय है। अहो ! दरिद्र समकिती भी केवली का अनुगामी है,

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

सर्वज्ञ के मार्ग पर चलनेवाला है। उसने आत्मा में मोक्ष के बीज बो दिये हैं, अल्पकाल में उसमें से मोक्ष का झाड़ फलेगा। पुण्य में से तो संयोग फलेगा और सम्यग्दर्शन में से मोक्ष का मीठा फल पकेगा।

देखो, इस सम्यग्दर्शन की महिमा! समकिती अर्थात् परमात्मा का पुत्र। जैनकुल में जन्म हुआ – इससे कोई मान ले कि हम श्रावक हैं, परन्तु भाई! श्रावक अर्थात् परमात्मा का पुत्र। 'परमात्मा का पुत्र' कैसे हो? उसकी यह रीति कही जाती है :–

भेदविज्ञान जग्यो जिन्हके घट, शीतल चित्त भयो जिम चंदन।
केलि करें शिवमारग में, जगमाँहि जिनेश्वर के लघुनन्दन॥[1]

जहाँ भेदज्ञान और सम्यग्दर्शन प्रगट किया, वहाँ अंतर में अपूर्व शांति को अनुभवता हुआ जीव मोक्ष के मार्ग में केलि करता है और वह जगत में जिनेश्वरदेव का लघुनन्दन है। मुनि बड़ा पुत्र है और समकिती छोटा पुत्र है।

आदिपुराण में भी (सर्ग २, श्लोक ६४) जिनसेन स्वामी ने गौतम गणधर को 'सर्वज्ञपुत्र' कहा है; यहाँ समकिती को जिनेश्वर का लघुनन्दन अर्थात् भगवान का छोटा पुत्र कहा है। अहा! जिसे जब सम्यग्दर्शन हुआ; तभी वह केवली भगवान का पुत्र हुआ, भगवान का उत्तराधिकारी हुआ, सर्वज्ञपद का साधक हुआ।

किसी को पुण्ययोग से पिता की विशाल सम्पत्ति का उत्तराधिकार मिले, परन्तु वह सम्पत्ति तो क्षण में नष्ट हो जाती है और यह समकिती तो केवलज्ञानी सर्वज्ञ पिता की अक्षयनिधि का उत्तराधिकारी हुआ है, यह निधि कभी समाप्त नहीं होती, आदि-अनन्त रहती है। सम्यग्दर्शन से ऐसी दशा प्रगट करे, वह श्रावक कहलाता है; अतः श्रावकधर्म के उपासक को निरन्तर प्रयत्नपूर्वक सम्यग्दर्शन धारण करना चाहिए।

जिसप्रकार आम्र का बीज आम की गुठली होती है, किसी कड़वी निम्बोली के बीज में से मधुर आम नहीं पकते; उसीप्रकार मोक्षरूपी मीठे आम का बीज तो सम्यग्दर्शन है, पुण्यादि विकार मोक्ष का बीज नहीं है। भाई! तेरे मोक्ष का बीज तेरे स्वभाव की जाति का हो, उससे विरुद्ध न हो। मोक्ष अर्थात् पूर्ण आनन्दरूप वीतरागदशा, अतः उसका बीज राग

---

1. कविवर बनारसीदास : समयसार नाटक, मंगलाचरण, छन्द ६

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कैसे हो ? रागमिश्रित विचारों से भी पार होकर निर्विकल्प आनन्द के अनुभव सहित आत्मा की प्रतीति करना ही सम्यग्दर्शन है और वही मोक्ष का मूल है।

मोक्ष का बीज सम्यग्दर्शन है और उस सम्यग्दर्शन का बीज आत्मा का भूतार्थस्वभाव है :–

"भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो[1]

भूतार्थस्वभाव का आश्रय करनेवाला जीव सम्यग्दृष्टि है।"

मोक्ष का मूल सम्यग्दर्शन है – ऐसा कहा है, परन्तु यदि कोई उस सम्यग्दर्शन का स्वरूप अन्यप्रकार माने तो उसे भी मार्ग की खबर नहीं है। सम्यग्दर्शन अन्य के आश्रय से नहीं, आत्मा के स्वभाव के आश्रय से ही है।

प्रश्न :– मोक्षमार्ग तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप कहा है न ?

उत्तर :– यह सत्य ही है, पर उसमें बीजरूप सम्यग्दर्शन बिना ज्ञान अथवा चारित्र नहीं होते। पहले सम्यग्दर्शन होता है, पीछे ही ज्ञान-चारित्र पूर्ण होने पर मोक्ष होता है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में श्री अमृतचन्द्र स्वामी ने भी कहा है :–

"एवं सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मको नित्यम्।
तस्यापि मोक्षमार्गो भवति निषेव्यो यथाशक्तिः ॥२०॥
तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च ॥२१॥

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र – इन तीन स्वरूप मोक्षमार्ग है, उसका गृहस्थों को सदा यथाशक्ति सेवन करना चाहिये। उन तीन में सबसे पहले पूर्ण पुरुषार्थ द्वारा अंगीकार करने योग्य सम्यक्त्व है; क्योंकि उसके होने पर ही ज्ञान और चारित्र होते हैं।"

सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान या चारित्र मोक्ष के साधक नहीं होते और सम्यक्त्व सहित मोक्षमार्ग का सेवन गृहस्थ को भी यथाशक्ति होता है – ऐसा यहाँ बतलाया।

सम्यग्दर्शन के पश्चात् जो राग-द्वेष हैं, वे अत्यन्त अल्प हैं और उनमें धर्मी को एकत्वबुद्धि नहीं है। मिथ्यादृष्टि को राग-द्वेष में एकत्वबुद्धि है अर्थात् उसको अनन्तानुबन्धी राग-द्वेष अनन्त संसार का कारण है।

---

1. समयसार, गाथा ११

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इसप्रकार संसार का बीज मिथ्यात्व है और सम्यग्दर्शन होने पर उसका छेद होकर मोक्ष का बीजारोपण होता है। सम्यग्दर्शनरूपी बीज उत्पन्न होने पर वह बढ़कर केवलज्ञानरूपी पूर्ण वृक्ष होकर रहेगा।

सम्यक्त्व कहता है "मुझे ग्रहण करने से ग्रहण करनेवाले की इच्छा न हो तो भी मुझे उसे जबरन मोक्ष ले जाना पड़ता है, इसलिए मुझे ग्रहण करने के पहले यह विचार कर लो कि मोक्ष जाने की इच्छा पलटने पर भी वह काम आने की नहीं। मुझे ग्रहण करने के पश्चात् तो मुझे उसे मोक्ष पहुँचाना ही चाहिये – यह मेरी प्रतिज्ञा है।"

– यह कथन श्रीमद् राजचन्द्रजी का है। ऐसा कहकर उन्होंने सम्यक्त्व की महिमा बतलाई है और उसे मोक्ष का मूल कहा है।

सम्यक्त्व अंगीकार करे और मोक्ष न हो -- ऐसा नहीं बनता और सम्यक्त्व बिना मोक्ष हो जाय – ऐसा भी नहीं बनता, इसलिए परमयत्न से सम्यग्दर्शन प्रगट करने का उपदेश है।

अहा! सम्यग्दर्शन होते ही चैतन्य के भंडार की तिजोरी खुल गई। अब उसमें से ज्ञान-आनन्द का माल जितना चाहो, उतना बाहर निकालो। पहले मिथ्यात्व के ताले में चैतन्य का खजाना बंद था; अब सम्यग्दर्शनरूपी चाबी से खोलते ही चैतन्य का अक्षय भंडार प्रगट हुआ; अब यदि सादि अनन्तकाल पर्यन्त इसमें से केवलज्ञान और पूर्णानन्द लिया ही करे....लिया ही करे .. तो भी वह भंडार समाप्त हो जाय – ऐसा नहीं है। किसीप्रकार वह कम हो जाय – ऐसा भी नहीं है।

अहा! सर्वज्ञ प्रभु और वीतरागी सन्तों ने ऐसा चैतन्यभंडार खोलकर बतलाया है; तो उसे कौन न ले? कौन अनुभव न करे?

सम्यग्दशन बिना चाहे जितना करे तो भी चैतन्य का भंडार नहीं खुलता, मोक्षमार्ग प्रगट नहीं होता, श्रावकपना भी नहीं होता। जो जीव सच्चे देव-गुरु-धर्म का विरोध करता है और कुदेव-कुगुरु-कुधर्म का आदर करता है, उसे तो व्यवहार से भी श्रावकपना नहीं होता। वह तो मिथ्यात्व के तीव्र पाप में डूबा हुआ है। ऐसे जीव को यदि पूर्व का पुण्य हो तो वह भी घट जाता है। ऐसे जीवों को तो महापापी कहकर पहली ही गाथा में निषेध किया है। उनमें तो धर्म की भी योग्यता नहीं है। यहाँ तो सच्चा श्रावक धर्मात्मा होने के लिये सबसे पहल सर्वज्ञदेव की पहचानपूर्वक सम्यग्दर्शन को शुद्ध करने का उपदेश है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कोई कहे कि हमने दिगम्बर धर्म के संप्रदाय में जन्म धारण किया है, इसलिये सम्यग्दर्शन तो हमको होता ही है तो यह बात सच्ची नहीं है। जैसा सर्वज्ञदेव ने कहा, वैसा अपने चैतन्यस्वभाव को पहचाने बिना कभी सम्यग्दर्शन नहीं होता। दिगम्बर धर्म तो सच्चा है; परन्तु तू स्वयं समझे तब न ? समझे बिना इस सत्य का तुझे क्या लाभ ? तेरे भगवान और गुरु तो सच्चे हैं, परन्तु उनका स्वरूप पहचाने, तभी तू सच्चा होगा। पहचान बिना तुझे क्या लाभ ? (समझे बिना उपकार क्या ?)

धर्म की भूमिका सम्यग्दर्शन है और मिथ्यात्व बड़ा पाप है। मिथ्यादृष्टि मन्दकषाय करके उसे मोक्ष का कारण माने तो वहाँ उसे अल्प पुण्य के साथ मिथ्यात्व का बड़ा पाप बँधता है, इसलिए मिथ्यात्व को भगवान ने भव का बीज कहा है। मिथ्यादृष्टि जीव पुण्य करे तो भी उसे वह पुण्य मोक्ष का कारण नहीं होता, समकिती को पुण्य-पाप होते हुए भी उसे वे संसार का बीज नहीं हैं। समकिती को सम्यक्त्व में मोक्ष की फसल आवेगी और मिथ्यादृष्टि को मिथ्यात्व में से संसार का फल आवेगा, इसलिए मोक्षाभिलाषी जीवों को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का और उसकी रक्षा का परम-उद्यम करना चाहिये।

जो सम्यग्दर्शन का उद्यम नहीं करता और पुण्य को मोक्ष का साधन समझकर उसकी रुचि में अटक जाता है, उससे कहते हैं कि अरे मूढ़ ! तुझे भगवान की भक्ति करना नहीं आती, भगवान तेरी भक्ति को स्वीकार नहीं करते; क्योंकि तेरे ज्ञान में तूने भगवान को स्वीकार नहीं किया। अपने सर्वज्ञस्वभाव को जिसने पहचाना, उसने भगवान को स्वीकार किया और भगवान ने उसे मोक्षमार्ग में स्वीकार किया, वह भगवान का सच्चा भक्त हुआ। दुनिया चाहे उसे न माने या पागल कहे; परन्तु भगवान ने और सन्तों ने उसे मोक्षमार्ग में स्वीकार किया है, भगवान के घर में वह प्रथम है।

भगवान के ज्ञान में जिसकी महापात्रता भासित हुई तो इसके समान बड़ा अभिनन्दन (सन्मान) क्या ? वह तो तीनलोक में सबसे महान् सर्वज्ञता को प्राप्त होगा और दुनिया भले पूजती हो, परन्तु भगवान ने जिसे धर्म के लिए अयोग्य कहा तो उसके समान अपमान अन्य क्या ? अहा ! भगवान की वाणी में जिस जीव के लिए ऐसा आया कि यह जीव तीर्थंकर होगा, यह जीव गणधर होगा तो उसके समान महा-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भाग्य अन्य क्या ? सर्वज्ञ के मार्ग में सम्यग्दृष्टि का बड़ा सम्मान है और मिथ्यादृष्टिपना ही बड़ा अपमान है।

इस घोर दुःख से भरे हुये संसार में भटकते जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त होना बहुत दुर्लभ है; परन्तु 'वह धर्म का मूल है' – ऐसा समझकर आत्मार्थी को पहले उसका ही उद्यम करना चाहिये। यदि मुनिदशा हो सके तो करना और यदि वह न हो सके तो श्रावकधर्म का पालन करना – ऐसा कहते हैं; परन्तु उन दोनों में 'सम्यग्दर्शन तो पहले होना चाहिए' – यह मूलभूत रखकर पीछे मुनिधर्म या श्रावकधर्म की बात है।

प्रश्न :– सम्यग्दर्शन किसप्रकार होता है ?

उत्तर :– भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो अर्थात् संयोग और विकार रहित शुद्ध चिदानन्दस्वभाव कैसा है, उसे लक्ष में लेकर अनुभव करने से सम्यग्दर्शन होता है; अन्य किसी के आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं होता। संयोग या बन्धभाव जितना ही आत्मा का अनुभव करना और ज्ञानमय अबन्धस्वभावी आत्मा को भूल जाना मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व सहित की सब क्रियाएँ एक इकाई बिना की शून्यों की तरह धर्म के लिए व्यर्थ हैं। छहढाला में पंडित दौलतरामजी ने भी कहा है कि :–

"मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो;
पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।"[1]

गणधरादि सन्तों ने सम्यग्दर्शन को मोक्ष का बीज कहा है। यदि कोई बीज के बिना वृक्ष उगाना चाहे तो कैसे उगे ? उसे लोग मूर्ख कहते हैं; उसीप्रकार सम्यग्दर्शन के बिना जो धर्मरूपी वृक्ष लगाना चाहते हैं, वे परमार्थ से मूर्ख हैं। जिन्हें अन्तर में राग के साथ एकताबुद्धि अत्यन्त टूट गई है और बाह्य में वस्त्रादि का परिग्रह छूट गया है – ऐसे वीतरागी सन्त महात्मा का यह कथन है।

जीव को अनन्तकाल में अन्य सब-कुछ मिला है, परन्तु शुद्ध सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हुई। महान देव और राजा-महाराजा अनन्तबार हुआ, उसीप्रकार घोर नरक-तिर्यंच के दुःख भी अनन्तबार भोगे; परन्तु मैं स्वयं ज्ञानगुण का भण्डार और आनन्दस्वरूप हूँ – ऐसी आत्मप्रतीति या अनुभव उसने पूर्व में कभी नहीं किया। सन्त करुणा-

1. छहढ़ाला; चौथी ढ़ाल, छन्द ५

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पूर्वक कहते हैं कि हे भाई ! तुझे ऐसे चैतन्यतत्त्व की प्रतीति का अवसर पुनः पुनः कहाँ मिलेगा ? इसलिये ऐसा अवसर प्राप्त कर उसका उद्यम कर, जिससे तेरा भवदुःख से छुटकारा हो।

इस सम्यग्दर्शन का साधन क्या है ? तो कहते हैं कि भाई ! तेरे सम्यग्दर्शन का साधन तेरे में होता है या तेरे से बाहर होता है ? आत्मा स्वयं सत्स्वभावी, सर्वज्ञस्वभावी परमात्मा है; उसके अन्तर्मुख होने से ही परमात्मा होता है, बाहर के साधन से नहीं। अन्तर में देखनेवाला अन्तरात्मा है और बाहर से माननेवाला बहिरात्मा है।

जिसप्रकार आम की गुठली में से आम और बबूल में से बबूल फलता है; उसीप्रकार आत्मप्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन में से तो मोक्ष के आम फलते हैं और मिथ्यात्वरूप बबूल में से बबूल जैसी संसार की चार गति फलती हैं। शुद्धस्वभाव से संसरण करके (बाहर निकलकर) विकार-भावरूप परिणमित होना संसार है। शुद्धस्वभाव के आश्रय से विकार का अभाव और पूर्णानन्द की प्राप्ति मोक्ष है।

इसप्रकार आत्मा का संसार और मोक्ष सभी स्वयं में ही समाविष्ट हैं, उनका कारण भी स्वयं में ही है। बाहर की अन्य कोई वस्तु आत्मा के संसार-मोक्ष का कारण नहीं है।

जो आत्मा का पूर्ण अस्तित्व माने, संसार और मोक्ष को माने, चार गति माने, जिसे चारों गतियों में दुःख लगे और जो उससे छूटना चाहे – ऐसे आस्तिक जिज्ञासु जीव की यह बात है। जगत में भिन्न-भिन्न अनन्त आत्माएँ अनादि-अनन्त हैं। आत्मा अभी तक कहाँ रहा ? आत्मभान के बिना संसार की भिन्न-भिन्न गतियों में भिन्न-भिन्न शरीर धारण करके दुःखी हुआ। अब उनसे कैसे छूटा जाय और मोक्ष कैसे प्राप्त हो – इसकी यह बात है।

अरे जीव ! अज्ञान से इस संसार में तूने जो दुःख भोगे, उनकी क्या बात ? अब सत्समागम – सत्य समझने का उत्तम अवसर आया है। ऐसे समय में यदि आत्मा की दरकार करके सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं करे तो समुद्र में डाल दिये रत्न की तरह इस भवसमुद्र में तेरा कहीं ठिकाना नहीं लगेगा। ऐसा उत्तम अवसर पुनः पुनः हाथ नहीं आता; अतः सम्यग्दर्शन की प्राप्ति महादुर्लभ जानकर उसका परम-उद्यम कर।

यहाँ तो सम्यग्दर्शन के पश्चात् श्रावक के व्रत का प्रकाशन करना

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है; परन्तु उसके पूर्व यह बताया है कि व्रत की भूमिका सम्यक्त्व हैं, सम्यग्दृष्टि को राग करने की बुद्धि नहीं, राग द्वारा मोक्षमार्ग सधेगा – ऐसा वह नहीं मानता, उसे भूमिकानुसार राग के त्यागरूप व्रत होते हैं। व्रत में जो शुभराग रहता है, उसे वह श्रद्धा में आदरणीय नहीं मानता।

चैतन्यस्वरूप में थोड़ी एकाग्रता होते ही अनन्तानुबन्धी कषाय के पश्चात् अप्रत्याख्यान सम्बन्धी कषायों का भी अभाव होकर पंचम गुणस्थान के योग्य जो शुद्धि हुई, वह सच्चा धर्म है। चौथे गुणस्थानवर्ती सर्वार्थसिद्धि के देव की अपेक्षा पाँचवें गुणस्थानवाले श्रावक को आत्मा का आनन्द विशेष है, भले ही वह मनुष्य हो या तिर्यंच। उत्तम पुरुषों को सम्यग्दर्शन प्रगट कर मुनि के महाव्रत या श्रावक के देशव्रत का पालन करना चाहिये। राग में किसीप्रकार एकत्वबुद्धि नहीं हो और शुद्धस्वभाव की दृष्टि नहीं छूटे – इसप्रकार सम्यग्दर्शन के निरन्तर पालनपूर्वक धर्म का उपदेश है।

अरे जीव ! इस तीव्र संक्लेश से भरे संसार में भ्रमण करते हुए सम्यग्दर्शन की प्राप्ति अतिदुर्लभ है। जिसने सम्यग्दर्शन प्रगट किया, उसने आत्मा में मोक्ष का वृक्ष बोया है; इसलिए सर्व उद्यम से सम्यग्दर्शन का सेवन कर।

निरखत जिनचन्द्र वदन स्व-पदसुरुचि आई। टेक॥
प्रगटी निज आन की पिछान ज्ञान भान की।
कला उदोत होत काम जामिनी पलाई॥१॥
शाश्वत आनन्द स्वाद पायो विनस्यो विषाद।
आन में अनिष्ट इष्ट कल्पना नसाई॥२॥
साधी निज साध की समाधि मोह व्याधि की।
उपाधि को विराधिकैं आराधना सुहाई॥३॥
धन दिन छिन आज सुगुन चिन्तें जिनराज अबै।
सुधरें सब काज 'दौल' अचल सिद्धि पाई॥४॥

– कविवर दौलतराम

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

श्रावक के छह आवश्यक

सम्प्राप्तेऽत्र भवे कथं कथमपि द्राघीयसाऽनेहसा ।
मानुष्ये शुचिदर्शने च महता कार्यं तपो मोक्षदम् ॥
नो चेल्लोकनिषेधतोऽथ महतो मोहादशक्तेरथो ।
सम्पद्येत न तत्तदा गृहवतां षट्कर्मयोग्यं व्रतं ॥४॥

सामान्यार्थ :– इस संसार में यदि किसी प्रकार से अतिशय दीर्घकाल में मनुष्यभव और निर्मल सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया है तो फिर महापुरुषों को मोक्षदायक तप का आचरण करना चाहिए। यदि कुटुम्बीजनों (लोक) आदि के रोकने से, महामोह से अथवा अशक्ति से वह तपश्चरण नहीं किया जा सके तो गृहस्थ श्रावकों को छह आवश्यक (देवपूजादि) क्रियाओं के योग्य व्रत का परिपालन तो करना ही चाहिए।

श्लोक ४ पर प्रवचन

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के पश्चात् क्या करना, वह अब चौथे श्लोक में कहते हैं।

अनादिकाल से इस संसार में भ्रमण करते हुए जीव को मनुष्यपना प्राप्त होना कठिन है और उसमें भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति अतिदुर्लभ है। इस भव में भ्रमण करते-करते दीर्घकाल में ऐसा मनुष्यपना और सम्यग्दर्शन प्राप्त करके उत्तम पुरुषों को तो मोक्षदायक ऐसा तप करना योग्य है अर्थात् मुनिदशा प्रगट करना योग्य है और यदि लोक के निषेध से, मोह की तीव्रता से और निज की अशक्ति से मुनिपना नहीं लिया जा सके तो उसे गृहस्थ के योग्य देवपूजा आदि षट्कर्म तथा व्रतों का पालन करना चाहिए।

मुनिराज कहते हैं कि हे भव्य ! ऐसा दुर्लभ मनुष्यभव प्राप्तकर आत्महित के लिए तू मुनिधर्म अंगीकार कर और यदि तुझसे इतना न

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हो सके तो श्रावकधर्म का पालन तो अवश्य कर; परन्तु दोनों सम्यग्दर्शन सहित होने की बात है। मुनिधर्म या श्रावकधर्म दोनों के मूल में सम्यग्दर्शन और सर्वज्ञ की पहिचान सहित आगे बढ़ने की बात है। जिसे सम्यग्दर्शन न हो तो प्रथम उसका उद्यम करना चाहिये – यह बात तो प्रथम तीन गाथाओं में बता आये हैं; उसके पश्चात् आगे की भूमिका की यह बात है।

सम्यग्दृष्टि की भावना तो मुनिपने की ही होती है। अहो! कब चैतन्य में लीन होकर सर्व संग का परित्याग करके मुनिमार्ग में विचरण करूँ? शुद्धरत्नत्रयस्वरूप जो उत्कृष्ट मोक्षमार्ग, उसरूप कब परिणमित होऊँ? तीर्थंकर और अरिहंत मुनि होकर चैतन्य के जिस मार्ग पर विचरे, उस मार्ग पर विचरण करूँ – ऐसा धन्य स्वकाल कब आयेगा।

अपूर्व अवसर ऐसा कब मुझ आयेगा,
बाह्यान्तर निर्ग्रन्थ दशा जब पाऊँगा।
सर्व सम्बन्ध का बन्धन तीक्ष्ण छेदकर,
कब विचरूँगा महत्पुरुष के पन्थ पर॥

इसप्रकार आत्मा के भानपूर्वक धर्मीजीव मुनिपने की भावना भाते हैं, तथापि निजशक्ति की मंदता से और निमित्तरूप चारित्रमोह की तीव्रता से तथा कुटुम्बीजनों आदि के आग्रहवश होकर स्वयं ऐसा मुनिपद ग्रहण न कर सके तो वह धर्मात्मा गृहस्थपने में रहकर श्रावक के धर्म का पालन करे – ऐसा यहाँ बतलाया है।

श्री पद्मनन्दी स्वामी ने श्रावक के छह कर्तव्य बतलाये हैं :–

"देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने॥[1]

भगवान जिनेन्द्रदेव की पूजा, निर्ग्रन्थ गुरुओं की उपासना, वीतरागी जैनशास्त्रों का स्वाध्याय, संयम, तप और दान – ये छह कार्य गृहस्थ श्रावक को प्रतिदिन करने योग्य हैं।

मुनिपना न हो सके तो दृष्टि की शुद्धतापूर्वक – इन छह कर्तव्यों द्वारा श्रावकधर्म का पालन तो अवश्य करना चाहिए।

भाई! ऐसा अमूल्य मनुष्यजीवन प्राप्त कर यों ही गँवा दे और सर्वज्ञदेव की पहिचान न करे, सम्यग्दर्शन का सेवन न करे, शास्त्र-स्वाध्याय न करे, धर्मात्मा की सेवा न करे और कषायों की मन्दता न

1. पद्मनन्दि-पंचविंशतिका; उपासक संस्कार, श्लोक ७

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

करे तो इस जीवन में तूने क्या किया? आत्मा को भूलकर संसार में भटकते हुए अनन्तकाल बीत गया; उसमें महा मूल्यवान् यह मनुष्यभव और धर्म का ऐसा दुर्लभयोग मिला तो अब जो तेरा परमात्मा के समान स्वभाव है, उसे दृष्टि में लेकर मोक्ष का साधन कर! यह शरीर और संयोग तो क्षणभंगुर हैं, इनमें तो कहीं सुख की छाया भी नहीं है।

सुखियों में पूर्ण सुखी तो सर्वज्ञ परमात्मा हैं; दूसरे सुखी मुनिवर हैं, जो आनन्द की ऊर्मीपूर्वक सर्वज्ञपद को साध रहे हैं और तीसरे सुखी सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा हैं, जिन्होंने चैतन्य के परम-आनन्दस्वभाव को प्रतीति में लिया है और उसका स्वाद चखा है; अतः वास्तविक सुख का अभिलाषी जीव प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट करके मुनिधर्म या श्रावकधर्म का पालन करता है – ऐसा उपदेश है।

संसार-परिभ्रमण में जीव को प्रथम तो निगोदादि एकेन्द्रिय में से निकलकर त्रसपना पाना बहुत दुर्लभ है, त्रसपने में भी पंचेन्द्रियपना और मनुष्यपना प्राप्त करना अतिदुर्लभ है। अतिदुर्लभ होते हुए भी जीव अनन्तबार उसे प्राप्त कर चुका है, परन्तु सम्यग्दर्शन उसने कभी प्राप्त नहीं किया, इसलिये मुनिराज कहते हैं कि हे भव्य जीव! ऐसे दुर्लभ मनुष्यपने में तू सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करके शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म की उपासना कर; यदि इतना न बन सके तो श्रावकधर्म का पालन अवश्य कर।

देखो! यहाँ यह भी कहा कि यदि मुनिपना न हो सके तो श्रावकधर्म पालना, परन्तु मुनिपने का स्वरूप अन्यथा नहीं मानना। शुद्धोपयोग के बिना मात्र राग (अट्ठाईस मूलगुणादि के शुभराग) को या वस्त्र के त्याग को मुनिपना मान ले तो वह श्रद्धा भी सच्ची नहीं रहती अर्थात् उसे तो श्रावकधर्म भी नहीं होता। चाहे कदाचित् मुनिपना न ले सके, परन्तु अन्तरंग में उस स्वरूप की प्रतीति बराबर प्रज्वलित रखे तो सम्यग्दर्शन टिका रहेगा; इसलिए तुझसे विशेष न हो सके तो जितना हो सके, उतना ही करना। श्रद्धा सच्ची होगी तो उसके बल से मोक्षमार्ग टिका रहेगा। श्रद्धा में ही गड़बड़ी करेगा तो मोक्षमार्ग से भ्रष्ट हो जायेगा।

सम्यग्दर्शन के द्वारा जिन्होंने शुद्धात्मा को प्रतीति में लिया हो; उनको उग्र लीनता से शुद्धोपयोग प्रगट हो और प्रचुर आनन्द का संवेदन अन्तर में हो रहा हो, बाह्य में वस्त्रादि परिग्रह छूट गया हो – ऐसी मुनिदशा है। अहो! इसमें तो बहुत वीतरागता है, यह तो परमेष्ठी पद है। कुन्दकुन्द स्वामी स्वयं ऐसी मुनिदशा में थे। उन्होंने प्रवचनसार के

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मंगलाचरण में पंचपरमेष्ठी भगवन्तों को वन्दन किया है। उन्होंने कहा है कि जिन्होंने परमशुद्धोपयोग भूमिका को प्राप्त किया है – ऐसे साधुओं को प्रणाम करता हूँ।

शुद्धोपयोग का नाम चारित्रदशा है, मोह और क्षोभ बिना जो आत्मपरिणाम – वह चारित्रधर्म है, वही मुनिपना है। मुनिमार्ग क्या है – इसकी जगत को खबर नहीं है। कुन्दकुन्दाचार्य जिस पद को नमस्कार करें, वह मुनिपद कैसा? यहाँ **'णमो लोए सव्व साहूणं'** – ऐसा कहकर पंचपरमेष्ठी पद में उन्हें नमस्कार किया जाता है। साधुपद की महिमा की क्या बात? यह तो मोक्ष का साक्षात् कारण है।

यहाँ कहते हैं कि हे जीव! मोक्ष का साक्षात् कारण शुद्धचारित्र को तू अंगीकार कर, सम्यग्दर्शन पश्चात् ऐसी चारित्रदशा प्रगट कर! चारित्रदशा बिना मोक्ष नहीं है। क्षायिक सम्यक्त्व और तीन ज्ञान सहित ऐसे तीर्थङ्कर भी जब शुद्धोपयोगरूप चारित्रदशा प्रगट करते हैं, तभी मुनिपना और केवलज्ञान प्राप्त करते हैं; इसलिए सम्यग्दर्शन प्राप्त करके ऐसी चारित्रदशा प्रगट करना ही उत्तम मार्ग है। परन्तु लोकनिषेध से (कुटुम्बीजनों के मना करने पर) और स्वयं के परिणाम में उसप्रकार की शिथिलता से यदि चारित्रदशा न ली जा सके तो श्रावक के योग्य व्रतादि करे।

दिगम्बर मुनिदशा पालने में तो बहुत वीतरागता है। परिणामों की शक्ति न देखे और जिस-तिस प्रकार से मुनिपना ले ले तथा पीछे पालन न कर सके तो उल्टे मुनिमार्ग की निन्दा होती है; इसलिये अपने शुद्धपरिणाम की शक्ति देखकर मुनिपना लेना। शक्ति की मन्दता हो तो मुनिपने की भावनापूर्वक श्रावकधर्म का आचरण करना, परन्तु उसके मूल में सम्यग्दर्शन तो पहले होता ही है। उसमें कमजोरी नहीं चलती, सम्यक्त्व में थोड़ा या अधिक – ऐसा भेद नहीं पड़ता है।

भूतार्थ के आश्रित श्रावक को दो कषायों के अभाव जितनी शुद्धि है और मुनि को तीन कषायों के अभाव जितनी शुद्धि है। जितनी शुद्धता है, उतना निश्चयधर्म है, स्वरूपाचरणरूप स्वसमय है, उतना मोक्षमार्ग है और उस भूमिका में देवपूजा आदि का या पंच महाव्रतादि का जो शुभराग है; वह व्यवहारधर्म है, मोक्ष का कारण नहीं है, परन्तु पुण्यास्रव का कारण है – इसप्रकार शुद्धता और राग के मध्य का भेद पहिचानना चाहिये। सम्यक्त्वरूप भावशुद्धि के बिना मात्र शुभ या अशुभभाव तो

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अनादि से सब जीवों में हुआ ही करते हैं; उस अकेले शुभ को वास्तविक व्यवहार नहीं कहते। निश्चय बिना व्यवहार कैसा? निश्चयपूर्वक जो शुभरागरूप व्यवहार है, वह भी कोई वास्तविक धर्म नहीं है; तो फिर निश्चय बिना अकेले शुभराग की क्या बात? वह तो वास्तव में व्यवहार-धर्म भी नहीं कहलाता।

सम्यग्दर्शन होते शुद्धता प्रकट होती है और धर्म प्रगट होता है। धर्मी को राग में एकत्वबुद्धि न होते हुए भी देवपूजा, गुरुभक्ति, शास्त्र-स्वाध्याय आदि सम्बन्धी शुभराग होता है, 'वह उस राग का कर्ता है' – ऐसा भी व्यवहार से कहा जाता है और उसे ही व्यवहारधर्म कहा जाता है; परन्तु निश्चयधर्म तो अन्तरंग में भूतार्थस्वभाव के आश्रय से जो शुद्धि प्रगट हुई, वही है।

अरे! वीतरागमार्ग की अगम्य लीला राग के द्वारा ज्ञान में नहीं आती। क्या तुझे राग में स्थित रहकर वीतरागमार्ग की साधना करना है? राग द्वारा वीतरागमार्ग का साधन कभी नहीं हो सकता। राग द्वारा धर्म माने – ऐसे जीव की यहाँ चर्चा नहीं है। यहाँ तो जिसने भूतार्थ-स्वभाव की दृष्टि से सम्यग्दर्शन प्रगट किया है, उसके आगे बढ़ते हुए मुनिधर्म या श्रावकधर्म का पालन किसप्रकार होता है – इसकी चर्चा है।

जिससमय सम्यग्दर्शन हुआ, उसीसमय स्वसंवेदन में अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद तो आया है, तत्पश्चात् मुनिपने में तो उस अतीन्द्रिय आनंद का प्रचुर स्वसंवेदन होता हैं। अहा! मुनियों को तो शुद्धात्मा के स्व-संवेदन में आनन्द की प्रचुरता है। समयसार की पाँचवीं गाथा में अपने निज वैभव का बर्णन करते हुए आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि 'अनवरत झरते हुए सुन्दर आनन्द की मुद्रावाला जो तीव्र संवेदन, उस-रूप स्वसंवेदन से हमारा निजवैभव प्रगट हुआ है'। स्वयं को निःशंक अनुभव में आता है कि ऐसा आत्मवैभव प्रगट हुआ है।

देखो, यह मुनिदशा! मुनिपना तो संवरतत्त्व की उत्कृष्टता है। जिसे ऐसी मुनिदशा की पहचान नहीं, उसे संवरतत्त्व की पहचान नहीं; दिगम्बरपना हुआ या पंच महाव्रत का शुभराग हुआ, उसे ही मुनिपना मान लेना कोई सच्चा नहीं है और वस्त्र सहित दशा में मुनिपना माने, उसे तो गृहीत मिथ्यात्व भी छूटा नहीं। मुनिदशा के योग्य परमसंवर की भूमिका में तीव्र राग के किसप्रकार के निमित्त छूट जाते हैं – इसकी भी उसे खबर नहीं अर्थात् उस भूमिका की शुद्धता को भी उसने नहीं जाना

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है। वस्त्र रहित हुआ हो, पंच महाव्रत दोषरहित पालता हो, परन्तु जो अन्तरंग में तीन कषाय के अभावरूप शुद्धोपयोग नहीं तो उसे भी मुनिपना नहीं है।

मुनिमार्ग तो अलौकिक है। महाविदेहक्षेत्र में वर्तमान में सीमंधर परमात्मा साक्षात् तीर्थंकररूप में विराज रहे हैं, वे ऐसा ही मार्ग प्रकाशित कर रहे हैं। ऐसे अनन्त तीर्थङ्कर हुए, लाखों सर्वज्ञ भगवान वर्तमान में उस क्षेत्र में विचर रहे हैं और भविष्य में अनन्त होंगे; उन्होंने वाणी (दिव्यध्वनि) में मुनिपने का एक ही मार्ग बतलाया है। यहाँ कहते हैं कि हे जीव! ऐसा मुनिपना अंगीकार करने योग्य है, यदि उसे अंगीकार न कर सके तो उसकी श्रद्धा करके श्रावकधर्म को पालना।

प्रश्न :– श्रावक को क्या करना चाहिए?

उत्तर :– प्रथम तो श्रावक हमेशा देवपूजा करे। देव अर्थात् सर्वज्ञदेव, उनका स्वरूप पहचानकर उनके प्रति बहुमानपूर्वक रोज-रोज दर्शन-पूजन करे। पहले ही सर्वज्ञ की पहचान की बात कही थी। स्वयं ने सर्वज्ञ को पहचान लिया है और स्वयं सर्वज्ञ होना चाहता है, वहाँ निमित्तरूप में सर्वज्ञता को प्राप्त अरहंत भगवान के पूजन – बहुमान का उत्साह धर्मी को आता है।

जिनमंदिर बनवाना, उसमें जिनप्रतिमा स्थापित करवाना, उनकी पंचकल्याणक पूजा-अभिषेक आदि उत्सव करना – ऐसे कार्यों का उल्लास श्रावक को आता है – ऐसी उसकी भूमिका है; इसलिए उसे श्रावक का कर्त्तव्य कहा है। यदि उसका निषेध करे तो मिथ्यात्व है और मात्र इतने शुभराग को ही धर्म समझे तो उसको भी सच्चा श्रावकपना नहीं होता– ऐसा जानो।

सच्चे श्रावक को तो प्रत्येक क्षण पूर्ण शुद्धात्मा के श्रद्धानरूप सम्यक्त्व वर्तता है और उसके आधार से जितनी शुद्धता प्रगट हुई, उसे ही धर्म जानता है। ऐसी दृष्टिपूर्वक वह देवपूजा आदि कार्यों में प्रवर्तता है। समन्तभद्र स्वामी, मानतुंग स्वामी आदि महान मुनियों ने भी सर्वज्ञदेव की नम्रतापूर्वक महान स्तुति की है; एक भवावतारी इन्द्र का रोम-रोम उल्लसित हो जाये – ऐसी अद्भुत भक्ति करता है। हे सर्वज्ञ परमात्मा! इस पंचमकाल में हमें आपके जैसी परमात्मदशा का तो विरह है और इस भरतक्षेत्र में आपके साक्षात् दर्शन का भी विरह है। नाथ! आपके दर्शन बिना कैसे रह सकूँ – इसप्रकार भगवान के विरह में उनकी प्रतिमा को

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

साक्षात् भगवान के समान समझकर श्रावक हमेशा दर्शन-पूजन करे। '**जिनप्रतिमा जिनसारखी**'; क्योंकि धर्मी को सर्वज्ञ का स्वरूप अपने ज्ञान में भास गया है, इसलिये जिनबिम्ब को देखते ही उसे उनका स्मरण हो जाता है।

नियमसार टीका में श्री पद्मप्रभमलधारि मुनिराज कहते है कि जिसे भवभय रहित ऐसे भगवान के प्रति भक्ति नहीं, वह जीव भवसमुद्र के बीच मगर के मुँह में पड़ा हुआ है। जिसप्रकार संसार के रागी प्राणी को युवा स्त्री का विरह खटकता है और उसके समाचार मिलते प्रसन्न होता है, उसीप्रकार धर्म के प्रेमी जीव को सर्वज्ञ परमात्मा का विरह खटकता है और उनकी प्रतिमा का दर्शन करते या संतों द्वारा उनका सन्देश सुनते (शास्त्र का श्रवण करते) उसे परमात्मा के प्रति भक्ति का उल्लास आता है। अहो मेरे नाथ ! तन से, मन से, धन से – सर्वस्वरूप से आपके लिए क्या-क्या करूँ ?

पद्मनन्दी स्वामी ने श्रावक के छह कर्तव्य बताये हैं। वे 'उपासक संस्कार[1] में कहते हैं कि जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान को भक्ति से नहीं देखता तथा उनकी पूजा-स्तुति नहीं करता, उसका जीवन निष्फल है और उसके गृहस्थाश्रम को धिक्कार है। मुनि इससे ज्यादा क्या कहें ? इसलिये भव्यजीवों को प्रातः उठकर सर्वप्रथम देव-गुरु के दर्शन, भक्ति से वन्दन और शास्त्रश्रवण कर्तव्य है, अन्य कार्य पीछे करना चाहिये।

प्रभो ! आपको पहिचाने बिना मेरा अनन्त काल निष्फल गया; परन्तु अब मैंने आपको पहिचान लिया है, मैंने आपके प्रसाद से आपके जैसा मेरा आत्मा पहचाना है, आपकी कृपा से मुझे मोक्षमार्ग मिला और मेरा जन्म-मरण का अन्त आ गया – ऐसा धर्मीजीव को देव-गुरु के प्रति भक्ति का प्रमोद आता है। श्रावक को सम्यग्दर्शन के साथ ऐसे भाव होते हैं। इसमें जितना राग है, उतना पुण्य है; राग बिना जितनी शुद्धि है, उतना धर्म है।

श्रावक जिनपूजा की तरह हमेशा गुरु की उपासना तथा शास्त्र का स्वाध्याय करे। समस्त तत्त्वों का निर्दोष स्वरूप जिससे दिखे – ऐसा ज्ञाननेत्र गुरुओं के प्रसाद से ही प्राप्त होता है। जो जीव निर्ग्रन्थ गुरुओं

---

1. पद्मनन्दि पंचविंशतिका, उपासक संस्कार, गाथा १५ से २७

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

को नहीं मानता, उनकी पहिचान और उपासना नहीं करता, उसको तो सूर्य उगे हुए भी अन्धकार है। इसीप्रकार वीतरागी गुरुओं के द्वारा प्रकाशित सत् शास्त्रों का जो अभ्यास नहीं करता, उसको नेत्र होते हुए भी विद्वान लोग अन्धा कहते हैं। विकथा पढ़ा करे और शास्त्रस्वाध्याय न करे, उसके नेत्र किस काम के? श्रीगुरु के पास रहकर जो शास्त्र नहीं सुनता और हृदय में धारण नहीं करता, उस मनुष्य के कान तथा मन नहीं हैं – ऐसा कहा है।[2]

इसप्रकार देवपूजा, गुरुसेवा और शास्त्रस्वाध्याय – ये श्रावक के हमेशा के कर्तव्य हैं। जिस घर में देव-गुरु-शास्त्र की उपासना नहीं होती; वह तो घर नहीं, जेलखाना है। जिसप्रकार भक्तिवान् पुत्र को अपनी माता के प्रति कैसा आदरभाव और भक्ति आती है। अहो मेरी माता! तेरे उपकार अपार हैं, तेरे लिये क्या-क्या करूँ? उसीप्रकार धर्मात्मा श्रावक को तथा जिज्ञासु जीव को भगवान के प्रति, गुरु के प्रति और जिनवाणी माता के प्रति हृदय से प्रशस्त भक्ति का उद्रेक आता है; अहो मेरे स्वामी! आपके लिये मैं क्या-क्या करूँ, किसप्रकार आपकी सेवा करूँ? – ऐसा भाव भक्त को आये बिना नहीं रहता, तो भी उसकी जितनी सीमा है, उतनी वह जानता है। केवल वह उस राग में धर्म मानकर नहीं रुक जाता। धर्म तो अन्तर के भूतार्थस्वभाव के अवलम्बन से है – उसने स्वभाव को प्रतीति में लिया है। ऐसे सम्यग्दर्शन सहित मुनिधर्म को न पाल सके तो श्रावकधर्म का पालन करे, उसका यहाँ वर्णन है।

श्रावकधर्म में छह कर्तव्यों को मुख्य बताया है। एक जिनपूजा, दूसरा गुरुपूजा और तीसरा शास्त्रस्वाध्याय – इन तीन की चर्चा की। उसके बाद अपनी भूमिका के योग्य संयम, तप और दान श्रावक हमेशा करे। विषयों से सुखबुद्धि तो पहले ही छूट गई है, तत्पश्चात् विषयकषायों में से परिणति मोड़कर अन्तर में एकाग्रता का प्रतिदिन अभ्यास करे। मुनिराज को तथा साधर्मी धर्मात्मा को आहारदान, शास्त्रदान इत्यादि करने की भावना भी प्रतिदिन करे।

भरत चक्रवर्ती जैसे भी श्रावक अवस्था में भोजन के समय प्रतिदिन मुनिवरों को याद करते हैं कि कोई मुनिराज पधारें तो उन्हें आहार-

---

2. पद्मन्दि-पंचाविंशतिका, उपासक संस्कार, गाथा १८ से २१

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दान देने के पश्चात् मैं भोजन करूँ। मुनिराज के पधारने पर अत्यन्त भक्तिपूर्वक आहारदान कराते हैं।

दान बिना गृहस्थअवस्था को निष्फल कहा है। जो पुरुष मुनि इत्यादि को भक्तिपूर्वक चतुर्विधदान (आहारदान, शास्त्रदान, औषधदान और अभयदान) नहीं देता, उसका घर तो वास्तव में घर नहीं, परन्तु उसको बाँधने के लिये बन्धपाश है – ऐसा दान सम्बन्धी बहुत उपदेश पद्मनन्दी स्वामी ने दिया है।[1] श्रावक की भूमिका में चैतन्य की दृष्टि सहित इसप्रकार छह कार्यों के भाव सहज होते हैं।

श्रावकधर्मप्रकाश का मतलब है कि गृहस्थाश्रम में सम्यक्त्वपूर्वक धर्म का प्रकाश होकर वृद्धि हो, उसका यह वर्णन है।

प्रथम तो सम्यग्दर्शन की दुर्लभता बतलाई। वैसे तो सम्यग्दर्शन सदाकाल दुर्लभ है, उसमें भी आजकल तो उसकी सच्ची बात सुनने को मिलना भी दुर्लभ हो गई है और सुनने को मिले तो भी बहुत से जीवों को उसकी खबर नहीं पड़ती। यहाँ कहते हैं कि ऐसा दुर्लभ सम्यग्दर्शन पाकर उत्तम पुरुष मुनिधर्म को अंगीकार करे, वैराग्यरूप में रमणता बढ़ावे।

प्रश्न :– शास्त्र में तो कहा है कि पहले मुनिदशा का उपदेश दो। आप तो पहले सम्यग्दर्शन का उपदेश देकर पीछे मुनिदशा की बात करते हो? सम्यग्दर्शन बिना मुनिपना होता ही नहीं – ऐसी बात करते हो?

उत्तर :– यह बराबर है; शास्त्र में पहले मुनिपना का उपदेश देने की जो बात कही है, वह तो श्रावकपना और मुनिपना – इन दो की अपेक्षा से पहले मुनिपने की बात कही है; परन्तु सम्यग्दर्शन के पहले मुनिपना ले लेने की बात नहीं की। सम्यग्दर्शन बिना तो मुनिधर्म अथवा श्रावकधर्म होता ही नहीं, इसलिए पहले सम्यग्दर्शन की मुख्य बात करके मुनिधर्म और श्रावकधर्म की बात है (शास्त्र में आता है कि क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवों में देशसंयम की अपेक्षा सीधा मुनिपना लेनेवाले जीव बहुत होते हैं)।

भाई! ऐसा मनुष्यपना प्राप्त करके सम्यक्त्व सहित यदि मुनिदशा हो तो अवश्य करना, वह तो उत्तम है; परन्तु यदि तेरी शक्ति की हीनता

---

1. पद्मनन्दि-पंचविंशतिका, उपासक संस्कार, गाथा ३१ से ३६

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

से इतना न हो सके तो श्रावकधर्म के पालन द्वारा मनुष्यभव की सार्थकता करना। ऐसा मनुष्यभव बार-बार मिलना दुर्लभ है। यह शरीर क्षण में नष्ट होकर उसके रजकण हवा में उड़ जायेंगे। कहा भी है :--

तेरे रजकण बिखरेंगे, जैसे बिखरती रेत।
फिर नरभव पायेगा कैसे? चेत चेत नर चेत॥

जिसप्रकार एक वृक्ष बिलकुल हरा हो और जलकर भस्म हो जाय, उसकी राख हवा में चारों ओर उड़ जाय; पीछे फिर से वे ही परमाणु उसी वृक्षरूप हो जाय अर्थात् एकत्रित होकर फिर से उसी स्थान पर वैसे ही वृक्षरूप परिणमित हों – यह कितना दुर्लभ है? मनुष्यपना तो उसकी अपेक्षा और भी दुर्लभ है, इसलिए तू इसे धर्मसेवन के बिना विषय-कषायों में ही नष्ट न कर!

श्रावक के जिनदर्शन आदि छह कार्य प्रतिदिन होते हैं। यहाँ सम्यग्दर्शन से सहित श्रावक की बात मुख्य है। सम्यग्दर्शन के पूर्व जिज्ञासु भूमिका में भी गृहस्थों द्वारा जिनदर्शन-पूजा-स्वाध्याय आदि कार्य होते हैं। जो सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को नहीं पहिचाने, उनकी उपासना नहीं करे; वह तो व्यवहार से भी श्रावक नहीं कहलाता।

प्रश्न :– देव-गुरु-शास्त्र की तरफ का भाव तो पराश्रितभाव है न?

उत्तर :– भेदज्ञानी को तो उससमय स्वयं के धर्मप्रेम का पोषण होता है। संसार संबंधी स्त्री-पुत्र-शरीर-व्यापार आदि की तरफ के भाव में तो पाप का पोषण होता है; उसकी दिशा बदलकर धर्म के निमित्त की तरफ के भाव आवें, तो राग की मन्दता होती है तथा वहाँ सच्ची पहिचान का – स्वाश्रय का अवकाश है। भाई! पराश्रयभाव तो पाप और पुण्य दोनों हैं, परन्तु धर्म-जिज्ञासु को पाप की तरफ का लगाव छूटकर धर्म के निमित्तरूप देव-गुरु-धर्म की तरफ का लगाव होता है। जो जीव इसका विवेक नहीं करे और स्वछंद पाप में प्रवर्ते या कुदेवादि को माने, उसे तो धर्मी होने की पात्रता भी नहीं है।

सर्वज्ञ कैसे होते हैं? उनके साधक गुरु कसे होते हैं? उनकी वाणीरूप शास्त्र कैसे होते हैं? शास्त्रों में आत्मा का स्वभाव कैसा बतलाया है? – इनके अभ्यास का रस होना चाहिए। सत्‌शास्त्रों का स्वाध्याय ज्ञान की निर्मलता का कारण है। लौकिक उपन्यास और अखबार पढ़े, उसमें तो पापभाव है। जिसे धर्म का प्रेम हो, उसे दिन-प्रतिदिन नये-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नये वीतरागी श्रुत के स्वाध्याय का उत्साह होता है। यह निर्णय में तो है कि ज्ञान मेरे स्वभाव में से ही आता है; परन्तु जबतक इस स्वभाव में एकाग्र नहीं रहा जाता, तबतक वह शास्त्रस्वाध्याय द्वारा बारम्बार उसका घोलन करता है।

सर्वार्थसिद्धि के देव तेतीस सागरोपम तक तत्त्वचर्चा करते हैं। इन सब देवों को आत्मा का भान है, एक भव में मोक्ष जानेवाले हैं, अन्य कोई काम (व्यापार-धन्धा या रसोई-पानी का काम) उनको नहीं है। तेतीस सागरोपम अर्थात् असंख्यात वर्षों तक चर्चा करते-करते भी जिसका रहस्य पूर्ण नहीं होता – ऐसा गम्भीर श्रुतज्ञान है; धर्मी को उसके अभ्यास का बड़ा प्रेम होता है, ज्ञान की रुचि होती है। जो चौबीस घंटे केवल विकथा में या व्यवहार-धन्धे के परिणाम में लगा रहे और ज्ञान के अभ्यास में जरा भी रस न ले, वह तो पाप में पड़ा हुआ है। अहो, धर्मी श्रावक को तो ज्ञान का कितना रस होता है!

प्रश्न :– परन्तु शास्त्र-अभ्यास में हमारी बुद्धि न चले तो?

उत्तर :– यह बहाना खोटा है। कदाचित् न्याय, व्याकरण या गणित जैसे विषय में बुद्धि न चले; परन्तु यदि आत्मा को समझने का प्रेम हो तो शास्त्र में आत्मा का स्वरूप क्या कहा है, उससे धर्म किस प्रकार हो – यह सब समझ में कैसे न आवे? न समझे तो गुरु द्वारा या साधर्मी को पूछकर समझना चाहिये; परन्तु पहले से ही 'समझ में नहीं आता' – ऐसा कहकर शास्त्र का अभ्यास ही छोड़ दे, उसे तो ज्ञान का प्रेम नहीं है।

सर्वज्ञदेव की पहिचानपूर्वक सेवा-पूजा, सन्त-गुरु-धर्मात्मा की सेवा, साधर्मी का आदर – ये श्रावक को जरूर होते हैं। गुरुसेवा अर्थात् धर्म में जो बड़े हैं, धर्म में जो उच्च हैं और उपकारी हैं; उनके प्रति विनय-बहुमान का भाव होता है। वह शास्त्र का श्रवण भी विनयपूर्वक करता है। प्रमादपूर्वक या हाथ में पंखा लेकर हवा खाते-खाते शास्त्र सुने तो अविनय है। शास्त्र सुनने के प्रसंग में विनय से ध्यानपूर्वक उसका ही लक्ष रखना चाहिए। इसके पश्चात् भूमिका के योग्य राग घटाकर संयम, तप और दान भी श्रावक हमेशा करे। इसके पश्चात् श्रावक के व्रत कौन से होते हैं, वे आगे की गाथा में कहेंगे।

इन शुभ कार्यों में कोई राग का आदर करने को नहीं समझाया, परन्तु धर्मात्मा को शुद्धदृष्टिपूर्वक किस भूमिका में राग की कितनी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मन्दता होती है – यह बतलाया है। भगवान सर्वज्ञ परमात्मा के अनुरागी, वन में बसनेवाले वीतरागी सन्त नौ सौ वर्ष पहले हुए पद्मनन्दी मुनिराज ने इस श्रावकधर्म का प्रकाश किया है।

सर्वज्ञदेव की पूजा, धर्मात्मा गुरुओं की सेवा, शास्त्र-स्वाध्याय करना श्रावक का कर्तव्य है – ऐसा व्यवहार से उपदेश है। शुद्धोपयोग करना, यह तो प्रथम बात है; परन्तु वह न हो सके तो शुभ की भूमिका में श्रावक के कैसे कार्य होते हैं, उसे बतलाने के लिए यहाँ उसे कर्तव्य कहा है – ऐसा समझना। इसमें जितना शुभराग है, वह तो पुण्यबन्ध का कारण है और सम्यग्दर्शन सहित जितनी शुद्धता है, वह मोक्ष का कारण है। सम्यग्दर्शन प्राप्तकर जो मोक्षमार्ग में गमन कर रहा है – ऐसे श्रावक को मार्ग में किसप्रकार के भाव होते हैं, उसे आचार्यश्री ने बतलाकर श्रावकधर्म को प्रकाशित किया है।

ऐसा मनुष्य अवतार और ऐसा उत्तम जैनशासन पाकर हे जीव! उसे तू व्यर्थ न गँवा; प्रथम तो सर्वज्ञ जिनदेव को पहिचानकर सम्यग्दर्शन प्रगट कर, इसके पश्चात् मुनिदशा के महाव्रत धारण कर! यदि महाव्रत न पाल सके तो श्रावक के धर्मों का पालन कर और श्रावक के देशव्रत धारण कर! श्रावक के व्रत कौन से होते हैं, वे आगे की गाथा में कहते हैं।

मनुष्यभव की उपयोगिता

हे भाई! आत्मा को भूलकर भव में भटकते हुए अनन्तकाल बीत गया, उसमें अति मूल्यवान यह मनुष्य अवतार और धर्म का ऐसा दुर्लभ योग तुझे प्राप्त हुआ है तो अब परमात्मा जैसा ही तेरा जो स्वभाव है; उसे दृष्टि में लेकर मोक्ष का साधन कर, प्रयत्नपूर्वक सम्यक्त्व प्रगट कर, शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म की उपासना कर, और यदि इतना न बन सके तो श्रावकधर्म का जरूर पालन करे।

– पूज्य श्री कानजी स्वामी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

सम्यग्दर्शनपूर्वक श्रावक के व्रत

दृग्मूलव्रतमष्टधा तदनु च स्यात्पंचधाणुव्रतं,
शीलाख्यं च गुणव्रतत्रयमतः शिक्षाश्चतस्रः पराः ।
रात्रौ भोजनवर्जनं शुचिपटात् पेयं पयः शक्तितो,
मौनादिव्रतमप्यनुष्ठितमिदं पुण्याय भव्यात्मनाम् ॥५॥

सामान्यार्थ :– सम्यग्दर्शन के साथ आठ मूलगुण और उनका अनुसरण करके पाँच अणुव्रत होते हैं। तथा तीन गुणव्रत एवं चार शिक्षाव्रत – ये सात शीलव्रत होते हैं। साथ ही रात्रि में भोजन का परित्याग, पवित्र वस्त्र से छाने गये जल का पीना तथा शक्ति के अनुसार मौनव्रत आदि का आचरण भव्य जीवों के लिए पुण्य का कारण होता है

श्लोक ५ पर प्रवचन

यह देशव्रतोद्योतन अर्थात् श्रावक के व्रतों का प्रकाशन चल रहा है। सबसे पहले सर्वज्ञदेव द्वारा कहे गये धर्म की पहिचान करने को कहा गया है, पश्चात् सम्यग्दृष्टि अकेला ही मोक्षमार्ग में शोभा को प्राप्त होता है – ऐसा कहकर सम्यक्त्व की प्रेरणा की है। तीसरी गाथा में सम्यग्दर्शन को मोक्षवृक्ष का बीज कहकर उसकी दुर्लभता बतलाई तथा यत्नपूर्वक सम्यक्त्व प्राप्त करके उसकी रक्षा करने को कहा गया हैं। सम्यक्त्व प्राप्त करने के पश्चात् मुनिधर्म का अथवा श्रावकधर्म का पालन करने का उपदेश दिया है, उसमें श्रावक के हमेशा के छह कर्तव्यों को भी बतलाया। अब इस श्लोक में श्रावक के व्रतों का वर्णन करते हैं।

देखो ! इसमें दो बातें बताई हैं। एक तो दृग् अर्थात् सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन होता है – यह बात बताई और दूसरी बात यह बताई है कि

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

शुभ आचरण पुण्य का कारण है अर्थात् आस्रव का कारण है, मोक्ष का कारण नहीं है। मोक्ष का कारण तो सम्यग्दर्शनपूर्वक स्वद्रव्य के आलम्बन द्वारा जितनी वीतरागता हुई, वह है।

जिसको आत्मभान हुआ है, कषायों से भिन्न आत्मभाव अनुभव में आया है, पूर्ण वीतरागता की भावना है, परन्तु अभी पूर्ण वीतरागता नहीं हुई; उसे श्रावक अवस्था में किसप्रकार का आचरण होता है, वह यहाँ बताया गया है।

जिसप्रकार गतिमान को धर्मास्तिकाय निमित्त है; उसीप्रकार स्वाश्रित शुद्धात्मा के बल से जो मोक्षमार्ग में गमन कर रहा है, उस जीव को बीच की भूमिका में यह व्रतादिरूप शुभ आचरण निमित्तरूप से होता है। सम्यग्दर्शन होने पर चौथे गुणस्थान से निश्चय-मोक्षमार्ग के जघन्य अंश की शुरूआत हो गई है, पश्चात् पाँचवें गुणस्थान में शुद्धता बढ़ गई है और राग बहुत कम हो गया है; उस भूमिका में शुभराग के आचरण की मर्यादा कितनी है और उसमें किसप्रकार के व्रत होते हैं – यह बताया है।

यह शुभरागरूप आचरण श्रावक को पुण्यबन्ध का कारण है अर्थात् धर्मीजीव अभिप्राय में इस राग को कर्तव्य भी नहीं मानते; राग के एक अंश को भी धर्मीजीव मोक्षमार्ग नहीं मानते, अतः उसे कर्तव्य नहीं मानते; परन्तु अशुभ से बचने के लिए शुभ को व्यवहार से कर्तव्य कहा जाता है; क्योंकि उस भूमिका में उसप्रकार का भाव होता है।

जहाँ शुद्धता की शुरूआत हुई है, परन्तु पूर्णता नहीं हुई; वहाँ बीच में साधक को महाव्रत या देशव्रत के परिणाम होते हैं। परन्तु जिसे अभी शुद्धता का अंश भी प्रगट नहीं हुआ है, जिसे पर में कर्तव्यबुद्धि है, जो राग को मोक्षमार्ग स्वीकारता है; उसे तो अभी मिथ्यात्व की शल्य है। ऐसे शल्यवाले जीव को व्रत होते ही नहीं; क्योंकि व्रती तो निःशल्य होता है। 'निःशल्यो व्रती'[1] – यह भगवान उमास्वामी का सूत्र है। जिसे मिथ्यात्व की शल्य न हो, जिसे निदान की शल्य न हो; उसे ही पाँचवाँ गुणस्थान और व्रतीपना होता है।

पहली बात दृग् अर्थात् सम्यग्दर्शन की है। सर्वज्ञदेव की प्रतीतिपूर्वक सम्यग्दर्शन होता है – यह पहली शर्त है; बाद में आगे की बात

1. मोक्षशास्त्र : अध्याय ७, सूत्र १८

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है। श्रावक को सम्यग्दर्शनपूर्वक अष्ट मूलगुणों का पालन नियम से होता है। बड़ का फल, पीपर, ऊमर, कठूमर तथा पाकर – इन पाँच फलों को उदम्बर फल कहते हैं, ये त्रसहिंसा के स्थान हैं – इनका त्याग तथा तीन मकार अर्थात् मद्य, मांस, मधु – इन तीनों का नियम से त्याग; ये अष्ट मूलगुण हैं अथवा पाँच अणुव्रतों का पालन और मद्य का, मांस का, व मधु का निरतिचार त्याग – ये श्रावक के अष्ट मूलगुण हैं। ये तो प्रत्येक श्रावक को नियम से ही होते हैं; चाहे वह मनुष्य हो, तिर्यंच हो या स्त्री हो।

अढ़ाईद्वीप के बाहर तिर्यंचों में असंख्यात सम्यग्दृष्टि हैं, उन्हीं में श्रावक पंचमगुणस्थानी भी असंख्यात हैं। सम्यग्दृष्टि को जैसा शुद्ध-स्वभाव है, वैसा प्रतीति में आ गया है और पर्याय में उसका अल्प शुद्धपरिणमन हुआ है। शुद्धस्वभाव की श्रद्धा के परिणमनपूर्वक शुद्धता का परिणमन होता है और ऐसी शुद्धि के साथ श्रावक को आठ मूलगुण, त्रसहिंसा के अभावरूप पाँच अणुव्रत, रात्रिभोजन-त्याग इत्यादि होते हैं। उस सम्बन्धी जो शुभभाव हैं, वे पुण्य का उपार्जन करनेवाले हैं – **"पुण्याय भव्यात्मनाम्"**। कोई उसको मोक्ष का कारण मान ले तो वह भूल है।

श्री उमास्वामी ने मोक्षशास्त्र के सातवें अधिकार में भी व्रतों का वर्णन शुभ आस्रव के प्रकरण में किया है; उन्होंने उनका संवररूप से वर्णन नहीं किया है।

यहाँ श्रावक को मद्य, मांस इत्यादि का त्याग होता है – ऐसा कहा; परन्तु यह ध्यान रखना कि पहली भूमिका में साधारण जिज्ञासु को भी मद्य, मांस, मधु, रात्रिभोजन आदि तीव्र पाप के स्थानों का तो त्याग होता है और श्रावक को तो प्रतिज्ञापूर्वक नियम से उसका त्याग होता है।

रात्रिभोजन में त्रसहिंसा होती है, इसलिए श्रावक को उसका त्याग होता ही हैं। इसीप्रकार अनछने पानी में भी त्रसजीव होते हैं। शुद्ध और मोटे कपड़े से छानने के पश्चात् ही श्रावक पानी पीता है। अस्वच्छ कपड़े से पानी छाने तो उस कपड़े के मैल में ही जीव होते हैं; इसलिए कहते हैं कि शुद्ध वस्त्र से छने हुए पानी को काम में लेवें। रात्रि को तो पानी पियेही नहीं और दिन में छानकर पिये। रात्रि को त्रसजीवों का संचार बहुत होता है; इसलिए रात्रि के खान-पान में त्रसजीवों की

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हिंसा होती है। जिसमें त्रसहिंसा होती है – ऐसे कोई कार्य के परिणाम व्रती श्रावक को नहीं हो सकते।

भक्ष्य-अभक्ष्य के विवेक बिना अथवा दिन-रात के विवेक बिना चाहे जैसे वर्तता होवे और कहे कि हम श्रावक हैं, परन्तु भाई! श्रावक को तो कितना राग घट गया है? उसको विवेक कितना होता है? एकभवावतारी इन्द्र और सर्वार्थसिद्धि के देवों की अपेक्षा ऊँची जिसकी पदवी; उसके विवेक की और उसके मन्द राग की क्या बात? वह अन्दर शुद्धात्मा को दृष्टि में लेकर साध रहा है और पर्याय में राग बहुत ही घट गया है। मुनि की अपेक्षा थोड़ी ही कम इसकी दशा है। यह श्रावकदशा अलौकिक है। वहाँ त्रसहिंसा के भाव कैसे? अन्दर त्रसहिंसा के भाव नहीं होते, अतः बाहर में भी त्रसहिंसा का आचरण सहज ही नहीं होता – ऐसी संधि है। अन्दर त्रसहिंसा के परिणाम न हों और बाहर हिंसा की चाहे जैसी प्रवृत्ति बना करे – ऐसा नहीं बनता। कोई कहे कि सभी अभक्ष्य खाना, परन्तु भाव नहीं करना; तो वह स्वच्छन्दी है, अपने परिणाम का उसको विवेक नहीं है।

भाई! जहाँ अन्दर से पाप के भाव छूट गये, वहाँ बाहर में पाप की क्रिया भले ही होवे – ऐसी उल्टीवृत्ति उठे ही कैसे? मुख में कन्दमूल भक्षण करता हो और कहे कि हमें राग नहीं है – यह तो स्वच्छन्दता है। भाई! यह तो वीतरागमार्ग है। तू स्वच्छन्दतापूर्वक राग का सेवन करे और तुझे वीतरागमार्ग हाथ में आ जावे – ऐसा नहीं है। स्वछन्दतापूर्वक राग को सेवे और अपने को मोक्षमार्गी मान ले, उसकी तो दृष्टि भी चोखी (सत्य) नहीं, सम्यग्दर्शन ही नहीं; फिर वहाँ श्रावकपने की अथवा मोक्षमार्ग की बात कैसी?

बीडी-तम्बाकू का व्यसन अथवा बासी अथाणा – मुरब्बा इन सबमें त्रसहिंसा है, श्रावक को इन सब का सेवन नहीं होता। इसप्रकार त्रसहिंसा के जितने स्थान हों, जहाँ जहाँ त्रसहिंसा की सम्भावना हो; वैसे आचरण श्रावक को नहीं होते – ऐसा समझ लेना।

'मद्य, मांस और मधु (शहद) तथा पाँच प्रकार के उदम्बर फल – इनका त्याग तो श्रावक को प्रथम ही होता है' – ऐसा पुरुषार्थ-सिद्धयुपाय में अमृतचन्द्राचार्यदेव ने कहा है।[1] जिन्हें इनका त्याग नहीं,

1. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्लोक ६१

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उन्हें व्यवहार से भी श्रावकपना नहीं होता और वे धर्मश्रवण के भी योग्य नहीं हैं।

समन्तभद्र स्वामी ने श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार में त्रसहिंसा के त्यागरूप पाँच अणुव्रत का पालन तथा मद्य-मांस-मधु का त्याग – इसप्रकार आठ मूलगुण कहे हैं।[1]

मुख्यता तो दोनों में त्रसहिंसा सम्बन्धी तीव्र पापपरिणामों के त्याग की है। जिस गृहस्थ को सम्यग्दर्शनपूर्वक पाँच पाप और तीन म-कार के त्याग की दृढ़ता हुई है, उसने समस्त गुणरूपी महल की नींव डाली। अनादि से संसार-भ्रमण का कारण जो मिथ्यात्व और तीव्र पाप – इसका अभाव होते ही जीव अनेक गुण-ग्रहण का पात्र हुआ है; इसलिए इन आठ त्यागों को अष्ट मूलगुण कहा है। बहुत से लोग दवा आदि में मधुसेवन करते हैं, परन्तु मांस की तरह ही मधु को भी अभक्ष्य गिना है। रात्रि के भोजन में भी त्रसहिंसा का बड़ा दोष है। श्रावक को ऐसे परिणाम नहीं होते।

भाई, अनन्तकाल में तुझे ऐसा मनुष्य अवतार मिला तो उसमें आत्मा का हित किसप्रकार हो – इसका विचार कर! एक अंगुल जितने क्षेत्र में असंख्यात औदारिक शरीर। एक शरीर में अनन्त जीव हैं; वे कितने हैं? जि अभी तक सिद्ध हुए, उनसे भी अनन्तगुने हैं। निगोद जीव एक-एक शरीर में हैं; उस निगोद में से निकलकर त्रसपना प्राप्त करना और उसमें यह मनुष्यपना और जैनधर्म का ऐसा अवसर मिलना तो बहुत ही दुर्लभ है। भाई! तुझे उसकी प्राप्ति हुई है तो आत्मा का जिज्ञासु होकर मुनिदशा या श्रावकदशा प्रगट कर! यह अवसर धर्म के सेवन बिना निष्फल न गँवा। सर्वज्ञ प्रभु द्वारा कहे हुये आत्मा के हित का सच्चा रास्ता अनन्तकाल में तूने नहीं देखा; सेवन नहीं किया। वह मार्ग यहाँ सर्वज्ञ परमात्मा के अनुगामी संत तुझे बता रहे हैं।

सती राजमती, द्रौपदी, तीसाजी, ब्राह्मी-सुन्दरी, चंदना, अंजना तथा रामचन्द्रजी, भरत, सुदर्शन, वारिषेणकुमार आदि पूर्व में राजपाट में थे, तब भी वे संसार से एकदम उदासीन थे। वे भी आत्मा के भान सहित धर्म का सेवन करते थे अर्थात् गृहस्थ-अवस्था में हो सके – ऐसी (श्रावकधर्म की) यह बात है। पश्चात् छठवें-सातवें गुणस्थानरूप

1. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ६६

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मुनिदशा तो विशेष ऊँची दशा है। वह गृहस्थ-अवस्था में रहकर नहीं हो सकती; परन्तु गृहस्थ-अवस्था में रहकर जो सम्यग्दर्शनपूर्वक शक्ति-अनुसार वीतरागधर्म का सेवन करते हैं, वे भी अल्पकाल में मुनिदशा और केवलज्ञान प्रगट कर मोक्ष को प्राप्त होंगे।

उपदेश का क्रम

चरणानुयोग में तीव्र कषायों का कार्य छुड़ाकर मन्दकषाय रूप कार्य करने का उपदेश देते हैं। यद्यपि कषाय करना बुरा ही है, तथापि सर्व कषाय न छूटते जानकर जितने कषाय घटें, उतना ही भला होगा – ऐसा प्रयोजन वहाँ जानना। जैसे जिन जीवों के आरम्भादि करने की व मन्दिरादि (मकानादि) बनवाने की, व विषय-सेवन की व क्रोधादि करने की इच्छा सर्वथा दूर होती न जाने, उन्हें पूजा-प्रभावनादिक करने का व चैत्यालयादि बनवाने का व जिनदेवादिक के आगे शोभादिक, नृत्य-गानादिक करने का व धर्मात्मा पुरुषों की सहाय आदि करने का उपदेश देते है; क्योंकि इनमें परम्परा कषाय का पोषण नहीं होता।

पाप कार्यों में परम्परा कषाय का पोषण है, इसलिये पापकार्यों से छुड़ाकर इन कार्यों में लगाते हैं। तथा थोड़ा-बहुत जितना छूटता जाने, उतना पापकार्य छुड़ाकर उन्हें सम्यक्त्व व अणुव्रतादि पालने का उपदेश देते हैं। तथा जिन जीवों के सर्वथा आरम्भादिक की इच्छा दूर हुई है, उनको पूर्वोक्त पूजादिक कार्य व सर्व पापकार्य छुड़ाकर महाव्रतादि क्रियाओं का उपदेश देते हैं, तथा किंचित् रागादिक छूटते जानकर उन्हें दया, धर्मोपदेश, प्रतिक्रमणादि कार्य करने का उपदेश देते हैं। जहाँ सर्व राग दूर हुआ हो, वहाँ कुछ करने का कार्य ही नहीं रहा; इसलिये उन्हें कुछ उपदेश ही नहीं है – ऐसा क्रम जानना।

—पण्डित टोडरमल

मोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अधिकार, पृष्ठ २८०

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

श्रावक के बारह व्रत

हन्ति स्थावरदेहिनः स्वविषये सर्वान् त्रसान् रक्षति,
ब्रूते सत्यमचौर्यवृत्तिमबलां शुद्धां निजां सेवते।
दिग्देशव्रतदण्डवर्जनमतः सामायिकं प्रौषधं,
दानं भोगयुगप्रमाणमुररीकुर्याद् गृहीति व्रती ॥६॥

सामान्यार्थ :– व्रती श्रावक अपने प्रयोजनवश स्थावर प्राणियों का घात करता हुआ भी सब त्रसजीवों की रक्षा करता है, सत्य वचन बोलता है, चौर्यवृत्ति का त्याग करता है, मात्र अपनी शुद्ध स्त्री का सेवन करता है, दिग्व्रत और देशव्रत का पालन करता है, अनर्थदण्डों (पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और प्रमादचर्या) का त्याग करता है; तथा सामायिक, प्रौषधोपवास, दान (अतिथिसंविभाग) और भोगोपभोगपरिमाण को स्वीकार करता है।

श्लोक ६ पर प्रवचन

'पाँचवीं गाथा में पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत – ऐसे जो बारह व्रत कहे हैं, वे कौन-कौन हैं ?' – यह बतलाकर उनका पालन करने को कहते हैं।

देशव्रती श्रावक को प्रयोजनवश (आहार आदि में) स्थावरजीवों की हिंसा होती है; परन्तु समस्त त्रसजीवों की तो रक्षा करता है, सत्य बोलता है, अचौर्यव्रत पालता है, शुद्ध स्वस्त्री के सेवन में संतोष अर्थात् परस्त्री-सेवन का त्याग है तथा परिग्रह की मर्यादा भी श्रावक को होती है। अभी उसके मुनिदशा नहीं अर्थात् सर्व परिग्रह का भाव नहीं छूटा; परन्तु उसकी मर्यादा आ गई है। परिग्रह में कहीं सुख नहीं है – ऐसा भान है और 'कोई भी परद्रव्य मेरा नहीं है, मैं तो

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ज्ञानमात्र हूँ' – एसी अन्तर्दृष्टि में तो सर्व परिग्रह छूटा हुआ ही है; परन्तु गृहस्थ को चारित्र-अपेक्षा से अभी सर्व परिग्रह नहीं छूटा। मिथ्यात्व का परिग्रह छूट गया है और दूसरे परिग्रह की मर्यादा हो गई है।

इसप्रकार पाँच अणुव्रत तथा दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदंड का त्यागरूप व्रत – ये तीन गुणव्रत तथा सामायिक, प्रौषधोपवास, दान अर्थात् अतिथिसंविभाग और भोगोपभोगपरिमाण – ये चार शिक्षाव्रत – इसप्रकार श्रावक के बारह व्रत होते हैं। ये व्रत पुण्य के कारण हैं – यह बात पाँचवीं गाथा में कही गई है।

चार अनन्तानुबन्धी और चार अप्रत्याख्यान – इन आठ कषायों के अभाव से श्रावक को सम्यक्त्वपूर्वक जितनी शुद्धता प्रगट हुई है, उतना मोक्षमार्ग है। जहाँ ऐसा मोक्षमार्ग प्रगट हुआ हो, वहाँ त्रसहिंसा के परिणाम नहीं होते। आत्मा परजीव को मार सके या जिला सके – ऐसी बाहर की क्रिया के कर्तव्य की यह बात नहीं है, परन्तु अन्दर ऐसे हिंसा के परिणाम ही उसे नहीं होते।

'प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्याय की मर्यादा स्वयं की वस्तु के प्रवर्तन में ही है, पर में प्रवर्तन नहीं होता' – ऐसे वस्तुस्वरूप के भानपूर्वक अंतरंग में कुछ स्थिरता हो, तभी व्रत होता है और उसे श्रावकपना कहा जाता है। ऐसे श्रावक को (द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय) त्रसहिंसा के सर्वथा त्यागरूप और स्थावरहिंसा के भी मर्यादारूप अहिंसाव्रत होता है।

इसीप्रकार सत्य का भाव हो और असत्य का त्याग हो। चोरी का त्याग हो। परस्त्री का त्याग तथा स्वस्त्री में सन्तोष हो और वह भी शुद्ध हो तभी अर्थात् जब ऋतुमती – अशुद्ध हो, तब स्वस्त्री का भी त्याग – इसप्रकार का एकदेश ब्रह्मचर्य हो। परिग्रह की कुछ मर्यादा हो – इसप्रकार श्रावक को पाँच अणुव्रत होते हैं। पाँच अणुव्रत के बाद श्रावक को तीन गुणव्रत भी होते हैं :–

१. **दिग्व्रत** :– दशों दिशा में निश्चित मर्यादा तक ही गमन करने की जीवनपर्यन्त प्रतिज्ञा करना।

२. **देशव्रत** :– दिग्व्रत में जो मर्यादा है, उसमें भी निश्चित क्षेत्र के बाहर नहीं जाने का नियम करना।

३. **अनर्थदण्डपरित्यागव्रत** :– बिना प्रयोजन के पापकार्य करने का त्याग करना। इसके पाँच प्रकार हैं :– अपध्यान, पाप का उपदेश, प्रमाद-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

चर्या, जिनसे हिंसा हो – एसे शस्त्र आदि का दान (हिंसादान) और दुःश्रुति अर्थात् जिससे राग-द्वेष की वृद्धि हो ऐसी दुष्ट कथाओं का श्रवण – इनका त्याग करना अनर्थदण्डपरित्यागव्रत है।

– इसप्रकार श्रावक के तीन गुणव्रत होते हैं।

श्रावक के चार शिक्षाव्रत भी होते हैं :–

१. **सामायिक** :– पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक प्रतिदिन परिणाम को अंतर में एकाग्र करने का अभ्यास करे।

२. **प्रौषधोपवास** :– अष्टमी, चतुर्दशी के दिनों में श्रावक उपवास करके परिणाम को विशेष एकाग्र करने का प्रयोग करे। सभी आरम्भ छोड़कर धर्मध्यान में ही पूरा दिन व्यतीत करे।

३. **दान** :– अपनी शक्ति के अनुसार योग्य वस्तु का दान करे। आहारदान, शास्त्रदान, औषधदान, अभयदान – इसप्रकार श्रावक चार प्रकार के दान करे; इनका विशेष वर्णन आगे करेंगे। अतिथि के प्रति अर्थात् मुनि या धर्मात्मा श्रावक के प्रति बहुमानपूर्वक आहारदानादि करे, शास्त्र देवे, ज्ञान का प्रचार कैसे बढ़े – ऐसी भावना रखे। इसे अतिथिसंविभागव्रत कहते हैं।

४. **भोगोपभोगपरिमाणव्रत** :– खाने-पीने इत्यादि की जो वस्तु एक बार उपयोग में आती है, उसे भोगसामग्री कहते हैं और वस्त्रादि जो सामग्री बार-बार उपयोग में आवे, उसे उपभोगसामग्री कहते हैं; उनका परिमाण करे, मर्यादा करे। उसमें सुखबुद्धि तो पहले से ही छूट गई है; क्योंकि जिसमें सुख माने, उसकी मर्यादा नहीं होती।

इसप्रकार पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत – एसे बारह व्रत श्रावक को होते हैं। इन व्रतों में जो शुभविकल्प है, वह तो पुण्यबन्ध का कारण है और उससमय स्वद्रव्य के आलम्बनरूप जितनी शुद्धता होती है, वह संवर-निर्जरा है। ज्ञायक आत्मा राग के एक अंश का भी कर्त्ता नहीं और राग के एक अंश से भी उसे लाभ नहीं – ऐसा भान धर्मी को बना रहता है। यदि ज्ञान में राग का कर्त्तृत्व माने अथवा राग से लाभ माने तो मिथ्यात्व है। भेदज्ञानी शुभराग के द्वारा पाप से बचा, इतना लाभ कहलाता है; परन्तु निश्चयधर्म का लाभ उस शुभराग में नहीं है। धर्म का लाभ तो जितना वीतरागभाव हुआ, उतना ही है। सम्यक्त्व सहित आंशिक वीतरागभावपूर्वक श्रावकपना शोभित होता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भाई ! आत्मा के खजाने को खोलने के लिए ऐसा अवसर मिला; विकथा में, पापस्थान में और पापाचार में ऐसा समय गँवाना कैसे निभे ? सर्वज्ञ परमात्मा द्वारा कहे हुए आत्मा के शुद्धस्वभाव को लक्ष में लेकर बारम्बार उसको अनुभव में ला और उसमें एकाग्रता की वृद्धि कर।

लोक में ममतावाले जीव भोजन आदि सर्व प्रसंगों में स्त्री-पुत्रादि को ममता से याद करते हैं; उसीप्रकार धर्म के प्रेमी जीव भोजनादि सर्व प्रसंगों में प्रेमपूर्वक धर्मात्मा को याद करते हैं कि मेरे आँगन में कोई धर्मात्मा अथवा कोई मुनिराज पधारें तो उनको भक्तिपूर्वक भोजन देकर मैं भोजन करूँ। भरत चक्रवर्ती जैसे धर्मात्मा भी भोजन के समय रास्ते पर आकर मुनिराज के आगमन की प्रतीक्षा करते थे और मुनिराज के पधारने पर परमभक्तिपूर्वक आहारदान करते थे। अहा ! ऐसा लगे कि आँगन में कल्पवृक्ष फलित हुआ, इससे भी अधिक आनंद मोक्षमार्गसाधक मुनिराज को अपने आँगन में देखकर धर्मात्मा को होता है।

जहाँ अपनी राग रहित चैतन्यस्वभाव की दृष्टि है और सर्व संग-त्याग की बुद्धि है, वहाँ गृहस्थ को ऐसे शुभभाव आते हैं। उस शुभराग की मर्यादा जितनी है, उतनी वह जानता है। अन्तर का मोक्षमार्ग तो राग से पार चैतन्यस्वभाव के आश्रय से परिणमता है। श्रावक के व्रत में मात्र शुभराग की बात नहीं है। जो शुभराग है, उसे तो जैनशासन में पुण्य कहा है और उससमय श्रावक को स्वभाव के आश्रय से जितनी शुद्धता वर्तती है; उतना धर्म है, वही परमार्थ व्रत है और वही मोक्ष का साधन है — ऐसा समझना।

०००००

अहो ! मुनिदशा

अपने आंगन में मुनिराज को देखते ही धर्मात्मा को अत्यन्त को आनन्द होता है। श्रावक को आठ प्रकार की कषाय के अभाव में सम्यक्त्वपूर्वक जितनी शुद्धता प्रगट हुई है, उतना मोक्षमार्ग है। ऐसा मोक्षमार्ग हो, वहाँ त्रसहिंसा के परिणाम नहीं होते। भाई ! आत्मा का खजाना खोलने के लिये यह अवसर मिला, उसमें विकथा में समय नष्ट करना कैसे शोभे ? सम्यक्त्व सहित आंशिक वीतरागतापूर्वक श्रावकपना शोभता है।

— पूज्य श्री कानजी स्वामी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

सत्पात्र दान की प्रमुखता

देवाराधनपूजनादिबहुषु व्यापारकार्येषु सत्,
पुण्योपार्जनहेतुषु प्रतिदिनं संजायमानेष्वपि ।
संसारार्णवतारणे प्रवहणं सत्पात्रमुद्दिश्य यत्,
तद्देशव्रतधारिणो धनवतो दानं प्रकृष्टो गुणः ।।७।।

सामान्यार्थ :– देशव्रती श्रावक को प्रतिदिन पुण्योपार्जन के कारणभूत देवाराधना एवं जिनपूजनादिरूप बहुत कार्य होते हैं। उनमें धनवान गृहस्थ का संसाररूपी समुद्र के पार होने में नौका के समान जो सत्पात्र दान है, वह महान् गुण है ।।७।।

श्लोक ७ पर प्रवचन

सम्यग्दर्शनपूर्वक देशव्रती श्रावक को अष्ट मूलगुण और बारह अणुव्रत होते हैं – यह बतलाया है। अब कहते हैं कि गृहस्थ को यद्यपि जिनपूजा आदि अनेक कार्य होते हैं तो भी उनमें सत्पात्र दान सबसे मुख्य है।

श्रावक को सत्पुण्योपार्जन के कारणरूप जिनदेव का आराधन-पूजन आदि अनेक कार्य हमेशा होते हैं; उसमें भी धनवान श्रावक का तो संसारसमुद्र को पार करने के लिए नौका समान ऐसा सत्पात्र दान उत्तम गुण है अर्थात् श्रावक के सब कार्यों में सत्पात्र दान मुख्य कार्य है।

धर्मीजीव प्रतिदिन धर्म की प्रभावना, ज्ञान का प्रचार, भगवान की पूजा-भक्ति आदि कार्यों में अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग किया करता है; उनमें धर्मात्मा को मुनि आदि के प्रति भक्तिपूर्वक दान देना मुख्य है।

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आहारदान, औषधदान, ज्ञानदान और अभयदान – ये चार प्रकार के दान आगे के चार श्लोक में बतावेंगे।

धनवान अर्थात् जिसने अभी परिग्रह नहीं छोड़ा – ऐसे श्रावक का मुख्य कार्य सत्पात्रदान है। जहाँ ऐसे दान-पूजादि का शुभराग आता है, वहाँ अन्तर्दृष्टि में उस राग का भी निषेध वर्तता है अर्थात् उस धर्मी को उस राग से 'सत्पुण्य' बँधता हैं। अज्ञानी को 'सत्पुण्य' नहीं होता; क्योंकि उसे तो पुण्य की रुचि है, राग के आदर की बुद्धि से उसे पुण्य के साथ मिथ्यात्वरूपी बड़ा पापकर्म बँधता है।

यहाँ दान की मुख्यता कही है, उससे अन्य का निषेध न समझना। जिनपूजा आदि को भी सत्पुण्य का हेतु कहा है, वह भी श्रावक को प्रतिदिन होता है। कोई उसका निषेध करे तो उसे श्रावकपने की या धर्म की खबर नहीं है।

यदि कोई जिनपूजा को परमार्थ से धर्म ही मान ले तो वह उसकी भूल है और यदि कोई जिनपूजा का निषेध करे तो वह भी भूल है। जिनप्रतिमा जैनधर्म में अनादि की वस्तु है, परन्तु वह जिनप्रतिमा वीतराग हो – **जिनप्रतिमा जिनसारखी**। किसी ने इस जिनप्रतिमा पर चन्दन पुष्प-आभरण-मुकुट-वस्त्र आदि चढ़ाकर उसका स्वरूप विकृत कर दिया हो और किसी ने जिनप्रतिमा के दर्शन-पूजन में पाप बतलाकर उसका निषेध किया हो – यह दोनों की भूल है। इस सम्बन्धी एक दृष्टान्त प्रस्तुत किया जाता है :–

दो मित्र थे। एक मित्र के पिता ने दूसरे मित्र के पिता को १०० (एक सौ) रुपये उधार दिये और बही में लिख लिये। पश्चात् दूसरे मित्र का पिता मर गया। कितने ही वर्षों के बाद पुराने बही-खाते देखते हुए पहले मित्र को खबर लगी कि मेरे पिता ने मित्र के पिता को एक सौ रुपये दिये थे, परन्तु उसे तो बहुत वर्ष बीत गये – ऐसा समझकर एक सौ के आगे दो बिन्दु लगाकर १०००० (दस हजार) बना दिये और पश्चात् मित्र को कहा कि तुम्हारे पिता ने मेरे पिता से दस हजार रुपये लिये थे, इसलिये लौटाओ। तब मित्र ने कहा कि मैं मेरे पुराने बही-चोपड़े देखकर फिर कहूँगा। घर जाकर पिता की बहियाँ देखी तो उसमें दस हजार के बदले सौ रुपये निकले। इस पर उसने विचार किया कि यदि रुपये स्वीकार करता हूँ तो मुझे दस हजार रुपये देना पड़ेंगे; अतः उसकी नीयत खराब हो गई और उसने तो मूल से ही उड़ा दी कि मेरी बहियों में कुछ नहीं

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

निकलता। देखो ! इसमें सौ रुपये की रकम तो सच्ची थी, परन्तु एक ने लोभवश उसमें दो बिन्दु बढ़ा दिये और दूसरे ने वह रकम सम्पूर्ण उड़ा दी।

उसीप्रकार अनादि जिनमार्ग में जिनप्रतिमा, जिनमंदिर, उनकी पूजा आदि यथार्थ है; परन्तु एक ने दो बिन्दुओं की तरह उसके ऊपर वस्त्र-आभरण आदि परिग्रह बढ़ाकर विकृति कर डाली और दूसरे ने तो शास्त्र में मूर्ति ही नहीं है – ऐसा गलत अर्थ करके उसका निषेध किया है। इन दोनों के अतिरिक्त वीतरागी जिनप्रतिमा को स्वीकार करके भी उस तरफ के शुभराग को जो मोक्ष के साधनरूप धर्म बतावे, उसने भी धर्म के सच्चे स्वरूप को नहीं समझा है। भाई ! जिनप्रतिमा है, उसके दर्शन-पूजन का भाव होता है; परन्तु उसकी सीमा कितनी ? कि शुभराग जितनी। यदि इससे आगे बढ़कर तू उसे परमार्थधर्म मान ले तो वह तेरी भूल है।

एक शुभ विकल्प उठे, वह भी वास्तव में ज्ञान का कार्य नहीं है। मैं तो सर्वज्ञस्वभावी हूँ; जैसे सर्वज्ञ में विकल्प नहीं, वैसे ही मेरे ज्ञान में भी रागरूपी विकल्प नहीं हैं। ये विकल्प उठते हैं न ? तो कहते हैं कि वह कर्म का कार्य है, मेरा नहीं। मैं तो ज्ञान हूँ, ज्ञान का कार्य राग से कैसे हो ? – इसप्रकार ज्ञानी को राग से पृथक् त्रैकालिक स्वभाव के भानपूर्वक उसे टालने का उद्यम होता है।

जिसने राग से पृथक् अपने स्वरूप को नहीं जाना और राग को अपना स्वरूप माना है, वह राग को कहाँ से टाल सकेगा ? ऐसे भेदज्ञान के बिना सामायिक भी सच्ची नहीं होती। सामायिक तो दो घड़ी अन्तर में निर्विकल्प आनन्द के अनुभव का एक अभ्यास है, दिन-रात चौबीस घण्टे आनन्द के अनुभव की जाँच – इसका नाम प्रौषध है और शरीर छूटने के प्रसंग में अन्तर में एकाग्रता के विशेष अभ्यास का नाम संल्लेखना अथवा संथारा है; परन्तु जिसे राग से भिन्न आत्मस्वभाव का अनुभव ही नहीं, उसे कैसी सामायिक ? और कैसा प्रौषध ? और कैसा संथारा ? भाई ! यह वीतरागमार्ग जगत से न्यारा है।

यहाँ अभी जिसने सम्यग्दर्शन सहित व्रत अंगीकार किये हैं – ऐसे धर्मी श्रावक को जिनपूजा आदि के उपरान्त दान के भाव होते हैं; उसकी चर्चा चल रही है। तीव्र लोभरूपी कुये की खोल में फँसे हुए जीवों को उसमें से बाहर निकलने के लिए श्री पद्मनन्दी स्वामी ने करुणा करके

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दान का विशेष उपदेश दिया है। उन्होंने दान अधिकार की छियालीसवीं गाथा में कौवे का दृष्टान्त देकर कहा है कि जो लोभी पुरुष दान नहीं देता और लक्ष्मी के मोहरूपी बन्धन से बँधा हुआ है, उसका जीवन व्यर्थ है। उसकी अपेक्षा तो वह कौवा श्रेष्ठ है, जो अपने को मिली हुई जली खुरचन को काँव-काँव करके दूसरे कौवों को बुलाकर खाता है। जिससमय में तेरे गुण जले अर्थात् उनमें विकृत हुई, उससमय में राग से पुण्य बँधा, उस पुण्य से कुछ लक्ष्मी मिली और अब तू उसे सत्पात्र के दान में नहीं खर्चे और मात्र पापहेतु में ही खर्चे तो तुझे सिर्फ पाप का ही बन्धन होता है; तेरी यह लक्ष्मी तुझे बन्धन का ही कारण है। सत्पात्र दान रहित जीवन निष्फल है; क्योंकि जिसे धर्म और धर्मात्मा का प्रेम नहीं है; उसे आत्मा का क्या लाभ हो सकता है ?

भाई ! यह दान का उपदेश संत तेरे हित के लिए देते हैं। संत तो वीतरागी हैं और उन्हें तेरे धन की वाञ्छा नहीं है; वे तो परिग्रह रहित दिगम्बर संत वन – जंगल में बसनेवाले और चैतन्य के आनन्द में झूलनेवाले हैं। यह जीवन, यौवन और धन – सब स्वप्न समान क्षणभंगुर हैं तो भी जो जीव सत्पात्र दान आदि में उसका उपयोग नहीं करते और लोभरूपी कुये की खोल में भरे हुए हैं; उन पर करुणा करके उद्धार के लिए संतों ने यह उपदेश दिया है।

अन्तर में सम्यक् दृष्टिपूर्वक अन्य धर्मात्माओं के प्रति दान-बहुमान का भाव आवे, उसमें स्वयं की धर्मभावना पुष्ट होती है; इसलिये ऐसा कहा कि दान श्रावक को भवसमुद्र से तिरने के लिए जहाज के समान है। जिसे निजधर्म का प्रेम है; उसे अन्य धर्मात्मा के प्रति प्रमोद, प्रेम और बहुमान आता है। धर्म धर्मीजीव के आधार से है; इसलिए जिसे धर्मी जीवों के प्रति प्रेम नहीं, जो मनुष्य साधर्मी-सज्जनों के प्रति शक्ति-अनुसार वात्सल्य नहीं करता, उसकी आत्मा प्रबल पाप से ढँकी हुई है और वह धर्म से विमुख है अर्थात् वह धर्म का अभिलाषी नहीं है। भव्य जीवों को साधर्मी-सज्जनों के साथ प्रीति अवश्य करनी चाहिए – ऐसा पद्मनन्दी स्वामी ने उपासक संस्कार की गाथा ३६ में कहा है।

हे जीव ! लक्ष्मी आदि का प्रेम घटाकर धर्म का प्रेम बढ़ा। स्वयं को धर्म का उल्लास आवे तो धर्मप्रसंग में तन-मन-धन खर्च करने का भाव उछले बिना नहीं रहे; धर्मात्मा को देखते ही उसे प्रेम उमड़ता है। वह जगत को

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दिखाने के लिए दानादि नहीं करता, परन्तु स्वयं को अन्तर में धर्म का ऐसा प्रेम सहज ही उल्लसित होता है।

धर्मात्मा की दृष्टि में तो आत्मा के आनन्दस्वभाव की ही मुख्यता है, परन्तु उसको शुभ कार्यों में दान की मुख्यता है। दृष्टि में आनन्द की मुख्यता रखते हुए भूमिका-अनुसार दानादि के शुभभावों में वह प्रवर्तता है। वह किसी को दिखाने के लिये नहीं करता, परन्तु अन्तर में धर्म के प्रति उसको सहजरूप से उल्लास आता है।

लोग स्थूलदृष्टि से धर्मी को मात्र शुभभाव करते हुए देखते हैं; परन्तु धर्मी की मूलभूत दृष्टि अन्दर की गहराई में वर्तती है, जो स्वभाव का अवलम्बन कभी नहीं छोड़ती और राग को आत्मरूप कभी नहीं करती; उसको दुनियाँ नहीं देखती, जब कि धर्म का मूल तो वह दृष्टि है। धर्म का मूल गहरा है। गहरा ऐसा जो अन्तरंगस्वभाव, वह धर्म का वटवृक्ष है; उस ध्रुव पर दृष्टि डालकर एकाग्रता का सींचन करते-करते इस वटवृक्ष में से केवलज्ञान प्रगट होगा। अज्ञानी के शुभभाव अर्थात् परलक्षी शास्त्रपठन – ये तो भाद्रपद महिने के भिण्डी के पौधे जैसे हैं अर्थात् वे लम्बे काल तक टिकेंगे नहीं।

धर्मात्मा को ध्रुवस्वभाव की दृष्टि से धर्म का विकास होता है। बीच में शुभराग और पुण्य आता है, उसको तो वह हेय जानता है। जो विकार है, उसकी महिमा क्यों और उससे आत्मा की महत्ता क्या? अज्ञानी तो राग द्वारा अपनी महत्ता मानकर स्वभाव की महत्ता को भूल जाता है और संसार में भटकता है। ज्ञानी को सत्स्वभाव की दृष्टिपूर्वक जो पुण्यबन्ध होता है, उसे सत्पुण्य कहते हैं; अज्ञानी के पुण्य को सत्पुण्य नहीं कहते।

जिसे राग – पुण्य की और उसके फल की प्रीति है, वह तो अभी संयोग ग्रहण करने की भावनावाला है अर्थात् उसे दान की भावना सच्ची नहीं होती। स्वयं तृष्णा घटावे तो दान का भाव कहा जाता है; परन्तु जो अभी किसी को ग्रहण करने में तत्पर है और जिसे संयोग की भावना है, वह राग घटाकर दान देने में राजी कहाँ से होगा? मेरा आत्मा ज्ञानस्वभावी स्वयं से पूर्ण है, पर का ग्रहण अथवा त्याग मेरे में है ही नहीं – ऐसे असंगस्वभाव की दृष्टिवाला जीव परसंयोग हेतु माथापच्ची न करे। अहो, इसे संयोग की भावना कितनी टल गई है! परन्तु इसका माप अन्तर्दृष्टि बिना पहिचाना नहीं जा सकता।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भाई ! तुझे पुण्योदय से लक्ष्मी मिली और महाभाग्य से जैनधर्म के सच्चे देव-गुरु महारत्न मिले। अब यदि तू धर्मप्रसंग में लक्ष्मी का उपयोग करने के बदले स्त्री-पुत्र तथा विषय-कषाय के पापभाव में ही धन का उपयोग करता है तो हाथ में आया हुआ रत्न समुद्र में फेंक देने जैसा तेरा कार्य है। धर्म का जिसे प्रेम होता है, वह तो धर्म की वृद्धि किसप्रकार हो, धर्मात्मा कैसे आगे बढ़े, साधर्मियों को कोई भी प्रतिकूलता हो तो वह कैसे दूर हो – ऐसे प्रसंग विचार-विचार कर उनके लिए उत्साह से धन खर्च करता है।

धर्मीजीव बारम्बार जिनेन्द्रपूजन का महोत्सव करता है। पुत्र के विवाह में कितने उत्साह से धन खर्च करता है ! उधार करके भी खर्च करता है यहाँ तो धर्म की लगन में देव-गुरु की प्रभावना के लिए और साधर्मी के प्रेम के लिए उससे भी विशेष उल्लासपूर्वक प्रवर्तना योग्य है। एक बार शुभभाव में कुछ खर्च कर दिया, इसलिये बस है – ऐसा नहीं; परन्तु बारम्बार शुभकार्य में उल्लास से वर्ते !

दान अपनी शक्ति-अनुसार होता है। लाख करोड़ की सम्पत्ति में से सौ रुपया खर्च हो, वह कोई शक्ति-अनुसार नहीं कहा जा सकता। उत्कृष्टरूप से चौथा भाग, मध्यमरूप से छठवाँ भाग तथा कम से कम दसवाँ भाग खर्च करे; उसको शक्ति-अनुसार दान कहा गया है।

देखिये ! यह कोई पर के लिए करने की बात नहीं है, परन्तु आत्मा के भान सहित परिग्रह की ममता घटाने की बात है। नये-नये महोत्सवों के प्रसंग तैयार करके श्रावक अपने धर्म का उत्साह बढ़ाता जाता है और पापभाव घटाता जाता है। उन प्रसंगों में अपने आँगन में बैठकर मुनिराज को अथवा धर्मात्मा को भक्ति से आहारदान करना उसका प्रधान कर्तव्य कहा गया है; क्योंकि उसमें धर्म के स्मरण का और धर्मभावना की पुष्टि का सीधा निमित्त है। मुनिराज इत्यादि धर्मात्मा को देखते ही स्वयं के रत्नत्रय धर्म की भावना तीव्र हो जाती है।

कोई कहे कि हमारे पास बहुत सम्पत्ति नहीं है, तो कहते हैं कि भाई ! कम पूँजी हो तो कम ही खर्च कर। तुझे तेरे भोगविलास के लिए लक्ष्मी मिल जाती है और धर्मप्रभावना का प्रसंग आता है, वहाँ तू हाथ खींच लेता है तो तेरे प्रेम की दिशा धर्म की तरफ नहीं, परन्तु संसार की तरफ है। धर्म के वास्तविक प्रेमवाला धर्मप्रसंग में नहीं छिपता।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भाई ! लक्ष्मी की ममता तो केवल पापबन्ध का कारण है। स्त्री-पुत्र के लिए या शरीर के लिए तू लक्ष्मी खर्च करेगा, वह तो तुझे मात्र पापबन्ध का ही कारण होगी और यदि वीतरागी देव-गुरु-धर्म,शास्त्र, जिनमंदिर आदि में तेरी लक्ष्मी का सदुपयोग करे तो वह पुण्य का कारण होगी तथा तेरे धर्म के संस्कार भी दृढ़ होंगे; इसलिए संसार के निमित्त और धर्म के निमित्त – इन दोनों का विवेक कर। धर्मात्मा श्रावक को तो सहज ही यह विवेक होता है और उसे सुपात्रदान का भाव होता है।

जैसे रिश्तेदार को प्रेम से – आदर से जिमाता है, उसीप्रकार सच्चा सम्बन्ध साधर्मी से है। साधर्मी धर्मात्माओं को प्रेम से – बहुमान से घर बुलाकर जिमाता है – ऐसे दान के उसके भाव को संसार से तिरने का कारण कहा है; क्योंकि मुनि के या धर्मात्मा के अन्तर के ज्ञानादि की पहिचान संसार से तिरने का हेतु होता है। सच्ची पहिचान-पूर्वक की यह बात है। सम्यग्दर्शन बिना अकेले दान के शुभपरिणाम से भव का अन्त हो जाय – ऐसा नहीं बनता। यहाँ तो सम्यग्दर्शनपूर्वक श्रावक को दान के भाव होते हैं – इसकी मुख्यता है।

धर्म के प्रेमी श्रावक

भाई ! लक्ष्मी तो क्षणभंगुर है; तू दान द्वारा लक्ष्मी आदि का प्रेम हटाकर धर्म का प्रेम बढ़ा। जिसे धर्म का उल्लास होता है, उसे धर्मप्रसंग में तन-मन-धन खर्च करने का उल्लास आये बिना नहीं रहता। धर्म की शोभा किसप्रकार बढ़े, धर्मात्मा किसप्रकार आगे बढ़ें और साधर्मियों को कोई प्रतिकूलता हो तो वह कैसे दूर हो – ऐसा प्रसंग विचार कर श्रावक उसमें उत्साह से वर्तता है। ऐसे धर्म के प्रेमी श्रावक को दान के भाव होते हैं।

– पूज्य श्री कानजी स्वामी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आहारदान का स्वरूप

सर्वो वाञ्छति सौख्यमेव तनुभृत् तन्मोक्ष एव स्फुटं
दृष्टयादित्रय एव सिद्यति स तन्निर्ग्रन्थ एव स्थितम् ।
तद्धृतिर्वपुषोऽस्य वृत्तिरशनात् तद्दीयते श्रावकैः
काले क्लिष्टतरेऽपि मोक्षपदवी प्रायस्ततो वर्तते ॥८॥

सामान्यार्थ : – सर्व जीव सुख चाहते हैं; वह सुख प्रगटरूप से मोक्ष में है, उस मोक्ष की सिद्धि सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय द्वारा होती है, रत्नत्रय निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु को होता है, साधु की स्थिति शरीर के निमित्त से होती है, शरीर की स्थिति भोजन के निमित्त से होती है और वह भोजन श्रावकों द्वारा दिया जाता है – इसप्रकार इस अतिशय क्लिष्टतर काल में भी मोक्षमार्ग की प्रवृति प्रायः उन श्रावकों के निमित्त से ही हो रही है।

श्लोक ८ पर प्रवचन

अब दान के जो चार प्रकार हैं – आहारदान, औषधदान, ज्ञानदान, और अभयदान; उनका वर्णन करते हैं।

प्रथम धर्मी श्रावक को आहारदान के कैसे भाव होते हैं, वह यहाँ बतलाते हैं।

व्यवहार का कथन है, इसलिए प्रायः शब्द रखा है; निश्चय से तो आत्मा के शुद्ध भाव के आश्रय से ही मोक्षमार्ग टिका हुआ है और उस भूमिका में यथाजातरूपधर निर्ग्रन्थ शरीर, आहार आदि बाह्य निमित्त होते हैं अर्थात् दान के उपदेश में 'प्रायः' इसके द्वारा ही मोक्षमार्ग प्रवर्तता है – ऐसा निमित्त से कहा जाता है, वास्तव में कोई आहार या शरीर से मोक्षमार्ग टिकता है – ऐसा नहीं बताना है। अरे ! मोक्षमार्ग के टिकने में जहाँ महाव्रत आदि के शुभराग का सहारा नहीं, वहाँ शरीर और

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आहार की क्या बात ? इसके आधार से मोक्षमार्ग कहना वह सब निमित्त का कथन है।

यहाँ तो आहारदान देने में धर्मीजीव का – श्रावक का ध्येय कहाँ है ? – यह बतलाना है। दान आदि के शुभभाव के समय ही धर्मी गृहस्थ को अन्तर में मोक्षमार्ग का बहुमान है। पुण्य का बहुमान नहीं, बाह्य क्रिया का कर्तव्य नहीं; परन्तु मोक्षमार्ग का ही बहुमान आता है कि अहो ! धन्य ये सन्त ! धन्य आज का दिन !! कि मेरे आँगन में मोक्षमार्गी मुनिराज पधारे; आज तो जीता-जागता मोक्षमार्ग मेरे आँगन में आया। अहो ! धन्य यह मोक्षमार्ग !! ऐसे मोक्षमार्गी मुनि को देखते ही श्रावक का हृदय बहुमान से उछल उठता है; मुनि के प्रति उसे अत्यन्त भक्ति और प्रमोद उत्पन्न होता है। सांचु रे सगपण साधर्मीतणु[1]। अन्य लौकिक सम्बन्ध की अपेक्षा उसे धर्मात्मा के प्रति विशेष उल्लास आता है।

मोही जीव को स्त्री, पुत्र, भाई, बहिन आदि के प्रति प्रेमरूप भक्ति आती है; वह तो पापभक्ति है। धर्मीजीव को देव, गुरु, धर्मात्मा के प्रति परमप्रीतिरूप भक्ति उछल पड़ती है; वह पुण्य का कारण है और उसमें वीतराग-विज्ञानमय धर्म के प्रेम का पोषण होता है। जिसे धर्मी के प्रति भक्ति नहीं, उसे धर्म के प्रति भी भक्ति नहीं; क्योंकि धर्मी के बिना धर्म नहीं होता। जिसे धर्म का प्रेम हो, उसे धर्मात्मा के प्रति उल्लास आए बिना नहीं रहता।

सीताजी के विरह में रामचन्द्रजी की चेष्टा साधारण लोगों को तो पागल जैसी लगे, परन्तु उनका अन्तरंग कुछ भिन्न ही था। अहो, सीता मेरी सहधर्मिणी ! उसके हृदय में धर्म का वास है, उसे आत्मज्ञान वर्त रहा है, वह कहाँ होगी ? इस जंगल में उसका क्या हुआ होगा ? – इसप्रकार साधर्मीपने के कारण रामचन्द्रजी को सीता के हरण से विशेष दुःख आया था। अरे, यह धर्मात्मा देव-गुरु की परमभक्त। इसे मेरा वियोग हुआ, मुझे ऐसी धर्मात्मा-साधर्मी का विछोह हुआ – ऐसे धर्म की प्रधानता का विरह है; परन्तु ज्ञानी के हृदय को संयोग की ओर से देखनेवाले मूढ़ जीव परख नहीं सकते।

धर्मी श्रावक अन्य धर्मात्मा को देखकर आनन्दित होते हैं और उन्हें

---

1. यह एक गुजराती पद्य की पंक्ति है, जिसमें बताया गया है कि अरे ! सच्चा साथ तो साधर्मी का ही होता है।

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जो बहुमान से आहारदान आदि का भाव आता है, उसका यह वर्णन चल रहा है। मुनि को तो कोई शरीर पर राग नहीं है, वे तो चैतन्यसाधन में लीन रहते हैं और जब कभी देह की स्थिरता के लिये आहार की वृत्ति उठती है, तब आहार के लिए नगरी में पधारते हैं। ऐसे मुनि को देखते ही गृहस्थ को ऐसे भाव आते हैं कि अहो! रत्नत्रय को साधनेवाले इन मुनि को शरीर की अनुकूलता रहे– ऐसा आहार-औषध देऊँ, जिससे ये रत्नत्रय को निर्विघ्न साध सकें।

इसप्रकार व्यवहार से शरीर को धर्म का साधन कहा है और उस शरीर का निमित्त अन्न है अर्थात् वास्तव में तो आहारदान देने के पीछे गृहस्थ की भावना परम्परा से रत्नत्रय के पोषण की ही है, उसका लक्ष्य रत्नत्रय पर ही है और उस भक्ति के साथ अपने आत्मा में रत्नत्रय की भावना पुष्ट करता है। श्री रामचन्द्रजी और सीताजी जैसे भी मुनियों को परमभक्ति से आहार देते थे।

मुनियों के आहार की विशेष विधि है। मुनि जहाँ-तहाँ आहार नहीं करते। वे जैनधर्म की श्रद्धावाले श्रावक के यहाँ ही नवधा भक्ति आदि विधिपूर्वक आहार करते हैं। श्रावक के यहाँ भी बुलाये बिना (भक्ति से पड़गाहन के बिना) मुनि आहार के लिए नहीं पधारते। और पीछे श्रावक अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक नौ प्रकार भक्ति से निर्दोष आहार मुनि के हाथ में देते हैं। (१.प्रतिग्रहण अर्थात् आदरपूर्वक निमंत्रण, २. उच्च आसन, ३. पाद-प्रक्षालन, ४. पूजन-स्तुति, ५. प्रणाम, ६. मन शुद्धि, ७. वचनशुद्धि, ८. कायशुद्धि, ९. आहारशुद्धि – ऐसी नवधा भक्ति पूर्वक श्रावक आहारदान दे।) जिस दिन मुनि के आहारदान का प्रसंग अपने आँगन में हो, उस दिन उस श्रावक के आनन्द का पार नहीं होता।

श्रीराम और सीता जैसे भी जंगल में मुनि को भक्ति से आहार-दान देते हैं, इसीसमय एक गृद्धपक्षी (जटायु) भी उसे देखकर उसकी अनुमोदना करता है और उसे जातिस्मरण ज्ञान होता है। श्रेयांसकुमार ने जब ऋषभमुनि को प्रथम आहारदान दिया, तब भरत चक्रवर्ती उसे धन्यवाद देने उसके घर गये थे।

यहाँ मुनि की उत्कृष्ट बात ली, उसीप्रकार अन्य साधर्मी श्रावक धर्मात्मा के प्रति भी आहारदान आदि का भाव धर्मी को होता है। ऐसे शुभभाव श्रावक की भूमिका में होते हैं, इसलिए उसे श्रावक का धर्म कहा है; तो भी उसकी मर्यादा कितनी? कि पुण्यबन्ध हो – इतनी, इससे

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अधिक नहीं। दान की महिमा का वर्णन करते हुए उपचार से ऐसा भी कहा है कि मुनि को आहारदान श्रावक को मोक्ष का कारण है – यहाँ वास्तव में तो श्रावक को उससमय में जो पूर्णता के लक्ष से सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान वर्तता है, वही मोक्ष का कारण है; राग कहीं मोक्ष का कारण नहीं – ऐसा समझना।

- सब जीवों को सुख चाहिये।
- पूर्ण सुख मोक्षदशा में है।
- मोक्ष का कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है।
- यह रत्नत्रय निर्ग्रन्थ मुनि को होता है।
- मुनि का शरीर आहारादि के निमित्त से टिकता है।
- आहार का निमित्त गृहस्थ श्रावक है।

– इसलिए परम्परा से गृहस्थ मोक्षमार्ग का कारण है।

जिस श्रावक ने मुनि को भक्ति से आहारदान दिया, उसने मोक्ष-मार्ग टिकाया – ऐसा परम्परा निमित्त अपेक्षा से कहा है; परन्तु इसमें आहार लेनेवाला और देनेवाला दोनों सम्यग्दर्शन सहित हैं, दोनों को राग का निषेध और पूर्ण विज्ञानघनस्वभाव का आदर वर्तता है। आहारदान देने वाले को भी सत्पात्र और कुपात्र का विवेक है। चाहे जैसे मिथ्यादृष्टि अन्यलिंगी को गुरु मानकर आदर करने में तो मिथ्यात्व की पुष्टि होती है।

धर्मी श्रावक को तो मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति का प्रेम है। सुख तो मोक्षदशा में है – ऐसा उसने जाना है अर्थात् उसे अन्यत्र कहीं सुखबुद्धि नहीं है। ऐसे मोक्षसुख को रत्नत्रयधारी दिगम्बर मुनि साध रहे हैं – इससे मोक्षाभिलाषी जीव को ऐसे मोक्षसाधक मुनि के प्रति परम-उल्लास, भक्ति और अनुमोदना आती है; वहाँ आहारदान आदि के प्रसंग सहज ही बन जाते हैं।

देखो! यहाँ तो श्रावक ऐसा है कि जिसे मोक्षदशा में ही सुख भासित हुआ है, जिसे संसार में अर्थात् पुण्य में –राग में – संयोग में कहीं सुख नहीं भासता। जिसे पुण्य में मिठास लगे, राग में सुख लगे; उसे मोक्ष के अतीन्द्रियसुख की प्रतीति नहीं और उसे मोक्षमार्गी मुनिवर के प्रति सच्ची भक्ति उल्लसित नहीं होती। मोक्षसुख तो राग रहित है; उसे पहिचाने बिना राग को सुख का कारण माने, उसे मोक्ष की अथवा मोक्षमार्गी संतों की पहिचान नहीं और पहिचान बिना की गई भक्ति को सच्ची भक्ति नहीं कहते।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मुनि को आहार देनेवाले श्रावक का लक्ष्य मोक्षमार्ग पर है कि अहो ! ये धर्मात्मा मुनिराज मोक्षमार्ग को साध रहे हैं। श्रावक मोक्षमार्ग के बहुमान से और उसकी पुष्टि की भावना से आहारदान देता है, अतः उसे मोक्षमार्ग टिकाने की भावना है और अपने में भी वैसा ही मोक्षमार्ग प्रगट करने की भावना है; इसलिए कहा है कि आहारदान देनेवाले श्रावक द्वारा मोक्षमार्ग-प्रवृत्ति होती है।

जैसे बहुत बार संघ जिमानेवाले को ऐसी भावना होती है कि इसमें कोई बाकी नहीं रहना चाहिए, क्योंकि इसमें कदाचित् कोई जीव तीर्थंकर होनेवाला हो तो ? – इसप्रकार जिमाने में उसे अव्यक्तरूप से तीर्थंकर आदि के बहुमान का भाव है। उसीप्रकार यहाँ मुनि को आहार देनेवाले श्रावक की दृष्टि मोक्षमार्ग पर है; आहार देऊँ और पुण्य बँधे – इस पर उसका लक्ष्य नहीं है।

इसका एक दृष्टान्त आता है कि किसी ने भक्ति से एक मुनिराज को आहारदान दिया और उसके आँगन में रत्नवृष्टि हुई। दूसरा कोई लोभी मनुष्य ऐसा विचारने लगा कि मैं भी इन मुनिराज को आहारदान दूँ, जिससे मेरे घर रत्नों की वृष्टि होगी। देखो ! इस भावना में तो लोभ का पोषण है, श्रावक को ऐसी भावना नहीं होती; श्रावक को तो मोक्षमार्ग के पोषण की भावना है कि अहो ! चैतन्य के अनुभव से जैसा मोक्षमार्ग मुनिराज साध रहे हैं, वैसा मोक्षमार्ग मैं भी साधूँ। ऐसी मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति की भावना उसे वर्तती है, इसलिए इस क्लिष्ट काल में भी प्रायः ऐसे श्रावकों द्वारा मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति है – ऐसा कहा जाता है।

अन्दर में शुद्धदृष्टि तो है, राग से पृथक् चैतन्य का वेदन हुआ है; वहाँ श्रावक को ऐसा शुभभाव आये, उसके फल से वह मोक्षफल को साधता है – ऐसा भी उपचार से कहा जाता है; परन्तु वास्तव में उससमय अन्तर में जो राग से परे दृष्टि पड़ी है, वही मोक्ष को साध रही है। (प्रवचनसार गाथा २५४ में भी इसी अपेक्षा बात की है।) अन्तर्दृष्टि को समझे बिना मात्र राग से वास्तविक मोक्षप्राप्ति मान ले; तो उसे शास्त्र के अर्थ की अथवा सन्तों के हृदय की खबर नहीं है, मोक्षमार्ग का स्वरूप वह नहीं जानता। यह अधिकार ही व्यवहार की मुख्यता से है; इसलिए इसमें तो व्यवहार-कथन होगा; परमार्थ से अन्तर्दृष्टि को लक्ष्य में रखकर समझना चाहिए।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

एक ओर जोरशोर से भार देकर ऐसा कहा जाता है कि भूतार्थस्वभाव के आश्रय से ही धर्म होता है और यहाँ कहा कि आहार या शरीर के निमित्त से धर्म टिकता है, तो भी उनमें कोई परस्पर विरोध नहीं है; क्योंकि पहला परमार्थ-कथन है और दूसरा उपचार-कथन है। मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति प्रायः गृहस्थ द्वारा दिये हुए दान से चलती है – इसमें 'प्रायः' शब्द यह सूचित करता है कि यह नियमरूप नहीं है, जहाँ शुद्धात्मा के आश्रय से मोक्षमार्ग टिके, वहाँ आहारादि को निमित्त कहा जाता है अर्थात् यह तो उपचार ही हुआ। शुद्धात्मा के आश्रय से ही मोक्षमार्ग टिकता है, इसके बिना मोक्षमार्ग हो नहीं सकता – यह नियमरूप सिद्धान्त है।

सुख अर्थात् मोक्ष। आत्मा की मोक्षदशा ही सुख है – इसके अलावा मकान में, पैसे में, राग में कहीं सुख नहीं है; धर्मी को आत्मा सिवाय कहीं सुखबुद्धि नहीं है। चैतन्य के बाहर किसी प्रवृत्ति में कहीं सुख है ही नहीं। आत्मा के मुक्तस्वभाव के अनुभव में सुख है। सम्यग्दृष्टि ने ऐसे आत्मा का निश्चय किया है और उसके सुख का स्वाद चखा है। और जो अनुभव द्वारा मोक्ष को साक्षात् साध रहे हैं – ऐसे मुनि को अत्यन्त उल्लास और भक्ति से वह आहारदान देता है।

आनन्दस्वरूप आत्मा में श्रद्धा-ज्ञान-स्थिरता मोक्ष का कारण है और बीच के व्रतादि शुभपरिणाम पुण्यबन्ध के कारण हैं। आत्मा के आनन्दसागर को उछालकर उसमें जो मग्न हैं – ऐसे नग्न मुनि रत्नत्रय को साध रहे हैं, उसके निमित्तरूप देह है और देह के टिकने का कारण आहार है; इसलिए जिसने भक्ति से मुनि को आहार दिया, उसने मोक्षमार्ग दिया अर्थात् उसके भाव में मोक्षमार्ग टिकने का आदर हुआ। इसप्रकार भक्ति से आहारदान देनेवाला श्रावक इस दुःषमकाल में मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति का कारण है। धर्मात्मा श्रावक ऐसा समझकर मुनि आदि सत्पात्र को रोज भक्ति से दान देता है। अहो! मेरे घर कोई धर्मात्मा संत पधारें, ज्ञान-आनन्द का भोजन करनेवाले कोई संत मेरे घर पधारें; तो भक्ति से उन्हें भोजन दूँ – ऐसा भाव गृहस्थ श्रावक को रोज-रोज आता है। ऋषभदेव के जीव ने पूर्व के आठवें भव में मुनिवरों को परमभक्ति से आहार दिया था और तिर्यंचों ने भी उसका अनुमोदन करके उत्तम फल प्राप्त किया था – यह बात पुराणों में प्रसिद्ध है। श्रेयांसकुमार ने आदिनाथ मुनिराज को आहारदान दिया था – ये सब प्रसंग प्रसिद्ध हैं।

०००००

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

औषधिदान का स्वरूप

स्वेच्छाहारविहारजल्पनतया नीरुग्वपुर्जायते,
साधूनां तु न सा ततस्तदषटु प्रायेण संभाव्यते।
कुर्याद्दौषधपथ्यवारिभिरिदं चारित्रभारक्षमं,
यत्तस्मादिह वर्तते प्रशमिनां धर्मो गृहस्थोत्तमात् ॥९॥

सामान्यार्थ :– इच्छानुसार आहारविहार और सम्भाषण द्वारा शरीर निरोग रहता है; परन्तु मुनियों को तो इच्छानुसार भोजनादि नहीं होता, इसलिए उनका शरीर प्रायः अशक्त ही रहता है। उत्तम गृहस्थ योग्य औषधि तथा स्वास्थ्यवर्धक भोजन-पानी द्वारा मुनियों के शरीर को चारित्रपालन हेतु समर्थ बनाता है। इसप्रकार मुनिधर्म की प्रवृत्ति उत्तम श्रावक द्वारा होती है।

श्लोक ९ पर प्रवचन

चार प्रकार के दान में से आहारदान की चर्चा की। अब दूसरे औषधिदान का उपदेश देते हैं। श्रावक मुनि आदि को औषधिदान किसप्रकार देता है – यह कहते है।

जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक शुद्धोपयोग द्वारा केवलज्ञान के कपाट खोल रहे हैं – ऐसे मुनिराज शरीर से भी अत्यन्त उदासीन होते हैं, वे वन जंगल में रहते हैं, ठंड में ओढ़ना अथवा गर्मी में स्नान करना उन्हें नहीं होता, रोगादि हो तो भी औषधि नहीं लेते, दिन में एक बार आहार लेते हैं, उसमें भी कभी ठंडा आहार मिलता है और कभी तीव्र गर्मी में गरम आहार मिलता है – इसप्रकार इच्छानुसार आहार उनको नहीं मिलता, अतः मुनि को कई बार निर्बलता आदि रोग हो जाते हैं; परन्तु

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

एसे प्रसंग में धर्मात्मा उत्तम श्रावक मुनि का ध्यान रखते हैं, उनको रोग वगैरह हुआ हो तो उसे जानकर आहार के साथ निर्दोष औषधि भी देते हैं तथा ऋतु-अनुसार योग्य आहार देते हैं। इसप्रकार श्रावक भक्तिपूर्वक मुनि का ध्यान रखते हैं।

यहाँ उत्कृष्टरूप से मुनि की बात ली है। इससे यह न समझना कि मुनि को छोड़कर अन्य जीवों को आहार अथवा औषधिदान देने का निषेध है। श्रावक अन्य जीवों को भी उनकी भूमिका के योग्य आदर से अथवा करुणाबुद्धि से योग्य दान दे; परन्तु जहाँ धर्मप्रसंग की मुख्यता हो, वहाँ धर्मात्मा को देखते ही विशेष उल्लास आता है। मुनि उत्तम-पात्र हैं, इसकारण उनकी मुख्यता है।

अहो! मुनिदशा क्या है – उसकी जगत को खबर नहीं है। छोटा-सा राजकुमार हो और मुनि होकर चैतन्य को साधता हो, चैतन्य के अतीन्द्रिय आनन्द का प्रचुर स्वसंवेदन जिसको प्रगट हुआ हो – ऐसे मुनि देह से तो अत्यन्त उदासीन हैं।

चाहे जितनी ठंड हो, परन्तु देह सिवाय अन्य परिग्रह जिसे नहीं; बाह्यदृष्टिवाले जीवों को लगता है कि ऐसे मुनि बहुत दुःखी होंगे। अरे भाई! उनके अन्तर में तो ऐसे आनन्द की धाराएँ बहती हैं कि जिस आनन्द की कल्पना भी तुझे नहीं आ सकती। चैतन्य के इस आनन्द की अभिलाषा में ठंड-गर्मी का लक्ष्य ही कहाँ है?

जिसप्रकार मध्यबिन्दु से सागर उछलता है; उसीप्रकार चैतन्य के अन्तर के मध्य में से मुनि को आनन्द की लहरें उछलती हैं। ऐसे मुनि को रोगादि हो तो भक्तिपूर्वक ध्यान रखकर उत्तम गृहस्थ पथ्य आहार के साथ योग्य औषधि भी देते हैं – इसका नाम साधु वैयावृत्य है, वह गुरुभक्ति का एक प्रकार है। श्रावक के कर्तव्य में पहले देवपूजा और दूसरी गुरु-उपासना कही, उसमें इसप्रकार के भाव श्रावक को होते हैं। मुनि स्वयं तो बोलते नहीं कि मुझे ऐसा रोग हुआ है, अतः ऐसी खुराक अथवा ऐसी दवा दो; परन्तु भक्तिवान श्रावक इसका ध्यान रखते हैं।

देखिये! इसमें मात्र शुभराग की बात नहीं; परन्तु सर्वज्ञ की श्रद्धा और सम्यग्दर्शन कैसे हो, वह पहले बताया गया है। श्रद्धापूर्वक श्रावकधर्म को ऐसी यह बात है। जहाँ श्रद्धा ही सच्ची नहीं और कुदेव-कुगुरु का सेवन होता है, वहाँ तो श्रावकधर्म नहीं होता। श्रावक को मुनि आदि

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

धर्मात्मा के प्रति कैसा प्रेम होता है, वह यहाँ बताना है। जिसप्रकार अपने शरीर में रोगादि होने पर दवा करवाने का राग होता है, उसीप्रकार मुनि इत्यादि धर्मात्मा के प्रति भी धर्मी को वात्सल्यभाव से औषधिदान का भाव आता है। गृहस्थ प्यारे पुत्र को रोगादि होने पर उसका भी ध्यान कैसे रखते हैं! तो धर्मी को तो सबसे प्रिय मुनि आदि धर्मात्मा हैं; उनके प्रति उसे आहारदान, औषधिदान, शास्त्रदान इत्यादि का भाव आये बिना नहीं रहता।

यहाँ कोई 'दवा से शरीर अच्छा रहता है अथवा शरीर से धर्म टिकता है' – ऐसा सिद्धान्त स्थापित नहीं करना है, परन्तु 'धर्मी को राग किसप्रकार होता है' – यह बताना है। जिसे धर्म की अपेक्षा संसार की तरफ का प्रेम अधिक रहे, वह धर्मी कैसा? संसार में जीव स्त्री-पुत्र आदि की वर्षगाँठ, लग्नप्रसंग आदि के बहाने राग की पुष्टि करता है; वह तो अशुभभाव है तो भी पुष्टि करता है; तो जिसे धर्म का रंग है, वह धर्मी के जन्मकल्याणक-मोक्षकल्याणक, कोई यात्राप्रसंग, भक्तिप्रसंग, ज्ञानप्रसंग आदि के बहाने धर्म का उत्साह व्यक्त करता है।

शुभ के अनेक प्रकारों में औषधिदान का प्रकार श्रावक को होता है, उसकी बात की।

धन्य ! आज का दिन !!

चैतन्य की मस्ती में मस्त मुनि को देखते हुए गृहस्थ को ऐसा भाव आता है कि अहा! रत्नत्रय साधनेवाले संत को शरीर की अनुकूलता रहे – ऐसा आहार-औषध देऊँ, जिससे वे रत्नत्रय को निर्विघ्न साधें, इसमें मोक्षमार्ग का बहुमान है। अहो! धन्य ये सन्त और धन्य आज का दिन कि मेरे आंगन में मोक्षमार्गी मुनिराज के चरण पड़े...... आज तो मेरे आँगन में साक्षात् मोक्षमार्ग आया...। वाह! धन्य ऐसे मोक्षमार्गी मुनियों को जिन्हें देखते ही श्रावक का हृदय बहुमान से उछल जाता है। जिसे धर्मी के प्रति भक्ति नहीं, आदर नहीं; उसे धर्म का भी प्रेम नहीं।

— पूज्य श्री कानजी स्वामी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

ज्ञानदान का स्वरूप

व्याख्या पुस्तकदानमुन्नत्तधियां पाठाय भव्यात्मनां
भक्त्या यत्क्रियते श्रुताश्रयमिदं दानं तदाहुर्बुधाः ।
सिद्धेऽस्मिन् जननान्तरेषु कतिषु त्रैलोक्यलोकोत्सव-
श्रीकारिप्रकटीकृताखिलजगत् कैवल्यभाजो जनाः ॥१०॥

सामान्यार्थ : – उन्नत बुद्धि के धारक भव्यजीवों को पढ़ने के लिए भक्ति से जो पुस्तक का दान किया जाता है अथवा उनके लिए तत्त्व का व्याख्यान किया जाता है, उसे विद्वत्जन श्रुतदान (ज्ञान-दान) कहते हैं। इस ज्ञानदान के सिद्ध हो जाने पर मनुष्य थोड़े से ही भवों में उस केवलज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं, जिसके द्वारा सम्पूर्ण विश्व साक्षात् देखा जाता है तथा जिसके प्रगट होने पर तीनों लोकों के प्राणी उस केवलज्ञान महोत्सव की शोभा मनाते हैं।

श्लोक १० पर प्रवचन

अब तीसरे ज्ञानदान का वर्णन करते हैं। ज्ञानदान की महिमा और उसका महान फल केवलज्ञान बताते हैं।

सर्वज्ञदेव के कहे हुए शास्त्रों का व्याख्यान करना तथा विशाल बुद्धिवाले जीवों को स्वाध्याय हेतु पुस्तक देना, उसे ज्ञानीजन शास्त्रदान या ज्ञानदान कहते हैं। ऐसे ज्ञानदान का फल क्या ? तो कहते हैं कि ऐसे ज्ञानदान द्वारा भव्य जीव थोड़े ही भवों में तीन लोक को आनन्दकारी अर्थात् समवसरण आदि लक्ष्मी को करनेवाली और लोक के समस्त पदार्थों को हस्तरेखा समान देखनेवाली – ऐसी केवलज्ञानज्योति प्राप्त करता है अर्थात् तीर्थंकरपद सहित केवलज्ञान को प्राप्त करता है। ज्ञान की आराधना का जो भाव है, उसके फल में केवलज्ञान प्राप्त होता है और बीच में ज्ञान के बहुमान का, धर्मी के बहुमान का जो शुभभाव है, उससे

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तीर्थंकरपद आदि मिलता है; इसलिए अपने हित को चाहनेवाले श्रावक को हमेशा ज्ञानदान करना चाहिए।

देखो इस ज्ञानदान की महिमा! सच्चे शास्त्र कौन हैं – उनकी जिसने पहचान की है और स्वयं सम्यग्ज्ञान प्रगट किया है, उसे ऐसा भाव आता है कि अहो! ऐसी जिनवाणी का जगत में प्रचार हो और जीव सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके अपना हित करें। ऐसी ज्ञानप्रचार की भावनापूर्वक स्वयं शास्त्र लिखे, लिखावे, पढ़े, प्रसिद्ध करे, लोगों को सरलता से शास्त्र मिलें – ऐसा करे। ऐसे ज्ञानदान का भाव धर्मीजीव को आता है। धर्मजिज्ञासु को भी ऐसा भाव आता है।

ज्ञानदान में स्वयं के ज्ञान का बहुमान पुष्ट होता है। वहाँ किसी सम्यग्दृष्टि जीव को ऐसा ऊँचा पुण्य बँधता है कि वह तीर्थंकर होता है, समवशरण में दिव्यध्वनि खिरती है, इस दिव्यध्वनि को झेलकर बहुत-से जीव धर्म प्राप्त करते हैं। 'अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग' अर्थात् ज्ञान के तीव्र रस से बारम्बार उसमें उपयोग लगाना, उसे भी तीर्थंकर प्रकृति का कारण कहा है; परन्तु ऐसे भाव वास्तव में किसे होते हैं? ज्ञानस्वरूप आत्मा को जानकर जिसने सम्यग्दर्शन प्रगट किया हो अर्थात् स्वयं धर्म प्राप्त किया हो, उसे ही ज्ञानदान या अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग यथार्थरूप से होता है। सच्चा मार्ग जिसने जान लिया है – ऐसे श्रावक के धर्म की यह बात है।

सम्यग्दर्शन बिना तो व्रत, दान आदि शुभ करते हुए भी वह अनादि से संसार में परिभ्रमण कर रहा है। यहाँ तो जो भेदज्ञान प्रगट कर मोक्षमार्ग में आरूढ़ है – ऐसे जीव की बात है। जिसने स्वयं ही ज्ञान नहीं पाया, वह अन्य को ज्ञानदान क्या करेगा? ज्ञान के निर्णय बिना शास्त्र आदि के बहुमान से पुस्तक आदि का दान करे, उसमें मोक्षमार्ग रहित पुण्य बंधता है; परन्तु यहाँ श्रावकधर्म में तो मोक्षमार्ग सहित दानादि की प्रधानता है अर्थात् सम्यग्दर्शन की प्राप्ति तो प्रथम करनी चाहिये, उसके बिना मोक्षमार्ग नहीं होता।

ज्ञानदान – शास्त्रदान करनेवाले श्रावक को सत्शास्त्र और कुशास्त्र का अन्तर मालूम है। सर्वज्ञ की वाणी झेलकर गणधरादि सन्तों द्वारा रचे हुए वीतरागी शास्त्रों को पहिचान कर उनका दान और प्रचार करे; परन्तु मिथ्यादृष्टियों के रचे हुए, तत्त्वविरुद्ध, कुमार्ग का पोषण करनेवाले – ऐसे कुशास्त्रों को वह नहीं माने, उनका दान या प्रचार नहीं करे; अनेकान्तमय सत्शास्त्र को पहिचान कर उनका ही दानादि करे।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

संयोग और अशुद्धता की रुचि छोड़कर अपने चिदानन्दस्वभाव की दृष्टि – रुचि – प्रीति करना ही सम्यग्दर्शन है; वह धर्म की पहली वस्तु है; उसके बिना पुण्य बँधता है; परन्तु कल्याण नहीं होता, मोक्षमार्ग नहीं होता पुण्य की रुचि में रुका, पुण्य के विकल्प में कर्त्तृत्वबुद्धि से तन्मय होकर रुका; उसे पुण्य के साथ-साथ मिथ्यात्व का पाप भी बँधता है। पंडित श्री टोडरमलजी मोक्षमार्गप्रकाशक के छठवें अध्याय में पृष्ठ १९२ पर कहते हैं :–

"जिनधर्म में तो यह आम्नाय है कि पहले बड़ा पाप छुड़ाकर फिर छोटा पाप छुड़ाया है, इसलिए इस मिथ्यात्व को सप्तव्यसनादिक से भी बड़ा पाप जानकर पहले छुड़ाया है; इसलिए जो पाप के फल से डरते हैं, अपने आत्मा को दुःखसमुद्र में नहीं डुबाना चाहते, वे जीव इस मिथ्यात्व को अवश्य छोड़ो। निन्दा-प्रशंसादिक के विचार से शिथिल होना योग्य नहीं है।"

कोई कहे कि सम्यक्त्व तो बहुत ऊँची भूमिका में होता है, पहले तो व्रत-संयम होना चाहिये; तो उसे जिनमत के क्रम की खबर नहीं है।

"जिनमत में तो ऐसी परिपाटी है कि पहले सम्यक्त्व हो, पीछे व्रत हो।"[1] तथा "मुनिपद लेने का क्रम तो यह है – पहले तत्त्वज्ञान होता है, पश्चात् उदासीन परिणाम होते हैं, परिषहादि सहने की शक्ति होती है; तब वह स्वयमेव मुनि होना चाहता है और तब श्रीगुरु मुनिधर्म अंगीकार कराते हैं।

यह कैसी विपरीतता है कि – तत्त्वज्ञान रहित विषय-कषायासक्त जीवों को माया से व लोभ दिखाकर मुनिपद देना, पश्चात् अन्यथा प्रवृत्ति कराना; सो यह बड़ा अन्याय है।"[2]

बन्ध के पाँच कारणों में मिथ्यात्व सबसे मुख्य कारण है। मिथ्यात्व छोड़े बिना अव्रत अथवा कषाय आदि नहीं छूटते। मिथ्यात्व छूटते ही अनन्त बन्धन एक क्षण में टूट जाते हैं। जिसे अभी मिथ्यात्व छोड़ने की तो इच्छा नहीं, उसे अव्रत कहाँ से छूटेंगे ? और व्रत कहाँ से आवेंगे ? आत्मा क्या है – उसकी जिसे खबर नहीं, वह किसमें स्थिर रहकर व्रत करेगा ? चिदानन्दस्वरूप के अनुभव होने के पश्चात् उसमें

1. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २९३
2 मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ १७९

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कुछ विशेष स्थिरता करते हैं, तो दो कषायों की चौकड़ी के अभावरूप पंचम गुणस्थान प्रगट होता है और उसे सच्चे व्रत होते हैं। ऐसे श्रावकधर्म के उद्योत का यह अधिकार है।

सम्यग्दर्शन बिना क्लेश सहन करके मर जाये तो भी भव नहीं घट सकते। समयसारकलशटीका, श्लोक १४२ में पंडित राजमलजी कहते हैं :—

उसकी (शुभक्रिया की) परम्परा आगे मोक्ष का कारण होगी — ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है, सो झूठा है। 'च' और कैसे हैं मिथ्यादृष्टि जीव ? 'महाव्रततपोभारेण चिरं भग्नाः क्लिश्यन्तां' हिंसा, अनृत, स्तेय, अब्रह्म एवं परिग्रह से रहितपना, महापरिषहों का सहना, उनका बहुत बोझ उसके द्वारा बहुत काल पर्यन्त मरके चूरा होते हुए बहुत कष्ट करते हैं तो करो, तथापि ऐसा करते हुए कर्मक्षय तो नहीं होता।

अज्ञानी की ये सब क्रिया तो कष्टरूप हैं, दुःखरूप हैं, शुद्धस्वरूप के अनुभव की तरह ये कोई सुखरूप नहीं; अनुभव का जो परम-आनन्द है, उसकी गंध भी शुभराग में नहीं है। ऐसे शुभराग को कोई मोक्ष का कारण माने, परम्परा से भी इस राग को मोक्ष का कारण होना माने तो कहते हैं कि वह झूठा है, भ्रम में है। मोक्ष का कारण यह नहीं है; मोक्ष का कारण तो शुद्धस्वरूप का अनुभव है।

प्रश्न :— चौथे काल में शुद्धस्वरूप का अनुभव मोक्ष का कारण भले हो, परन्तु इस कठिन पंचम काल में तो राग मोक्ष का कारण होगा न ?

उत्तर :— पंचम काल में हुए मुनि पंचम काल के जीवों को यह बात समझाते हैं। चौथे काल का धर्म जुदा और पंचम काल का धर्म जुदा — ऐसा नहीं है। धर्म अर्थात् मोक्ष का मार्ग तीनों काल में एक ही प्रकार का है। जब और जहाँ जो कोई जीव मोक्ष प्राप्त करेगा, वह राग को छोड़कर शुद्धस्वरूप के अनुभव से ही प्राप्त करेगा। चाहे किसी भी क्षेत्र में, कोई भी जीव राग द्वारा मोक्ष प्राप्त नहीं करता — ऐसा नियम है।

प्रथम जिसने मोक्षमार्ग के ऐसे स्वरूप का निर्णय किया है और सम्यग्दर्शन द्वारा अपने में उसका अंश प्रगट किया है, उसे बाद में राग की मंदता के कौन से प्रकार होते हैं — उनके कथन में चार प्रकार के दान की बात चल रही है। मुनि आदि धर्मात्मा के प्रति भक्ति से आहार-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दान, औषधिदान के पश्चात् शास्त्रदान का भी भाव श्रावक को आता है। उसे वीतरागी शास्त्रों का बहुत विनय और बहुमान होता है। वीतरागी ज्ञान की प्रभावना कैसे हो, बहुत जीवों में इसका प्रचार कैसे हो – इसके लिए वह अपनी शक्ति लगाता है। इसमें अन्य जीव समझें या न समझें – इसकी मुख्यता नहीं; परन्तु धर्मी को अपने सम्यग्ज्ञान का बहुत प्रेम है, उसकी मुख्यता है अर्थात् अन्य जीव भी सच्चा तत्त्वज्ञान कैसे प्राप्त करें – ऐसी भावना धर्मी को होती है।

सर्वज्ञदेव द्वारा कहे गये शास्त्रों का रहस्य स्वयं जानकर अन्यको उसे समझाना और भक्ति से उसका प्रचार करना, वह ज्ञानदान है। अन्तर में तो स्वयं ने स्वयं को सम्यग्ज्ञान का दान दिया तथा बाह्य में 'अन्य जीव भी ऐसा ज्ञान प्राप्त करें और भवदुःख से छूटें' – ऐसी भावना धर्मी को होती है। शास्त्रदान के बहाने अन्य को समझाने अथवा प्रचार करने के बहाने अपनी मान-प्रतिष्ठा अथवा बड़प्पन की भावना हो तो वह पाप है; धर्मी को ऐसी भावना नहीं होती। धर्मात्मा तो कहता है कि अरे! हमारी ज्ञानचेतना से हमारा कार्य हमारे आत्मा में हो रहा है, वहाँ बाहर अन्य को बताने का क्या काम है? अन्य जीव जाने तो उसे सन्तोष हो – ऐसा नहीं है, उसे तो अन्तर में आत्मा से ही सन्तोष है।

जो स्वयं एकाकी अन्तर में अपनी आत्मा का कल्याण कर ले, वह बड़ा अथवा बहुत से जीवों को समझावे, वह बड़ा?

अरे भाई! अन्य समझें या न समझें, उसके साथ इसका क्या सम्बन्ध? कदाचित् अन्य बहुत से जीव समझें तो भी उस कारण से इसे जरा भी लाभ हुआ हो – ऐसा नहीं है और धर्मी को कदाचित् वाणी का योग कम हो (मूककेवली भगवान की तरह वाणी का योग न भी हो) तो उससे कोई उसके अन्तर का लाभ रुक जावे –ऐसा नहीं है। बाह्य में अन्य जीव समझें – इस पर से जो धर्मी का माप करना चाहते हैं, उन्हें धर्मी की अन्तर्दशा की पहचान नहीं है।

यहाँ ज्ञानदान में तो यह बात है कि स्वयं को ऐसा भाव होता है कि अन्य जीव भी सच्चे ज्ञान को प्राप्त करें; परन्तु अन्य जीव समझें या न समझें – यह उनकी योग्यता पर है, उनके साथ इसे कोई लेना-देना नहीं है। स्वयं को पहले अज्ञान था और महादुःख था, वह दूर होकर स्वयं को सम्यग्ज्ञान हुआ और अपूर्व सुख प्रगट हुआ अर्थात् स्वयं को सम्यग्ज्ञान

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

की महिमा भासी है, अतः 'अन्य जीव भी ऐसे सम्यग्ज्ञान को प्राप्त हों तो उनका दुःख मिटे और सुख प्रगटे' – इसप्रकार धर्मी को अन्तर में ज्ञान की प्रभावना का भाव आता है और साथ में उसी समय अन्तर में शुद्धात्मा की भावना से ज्ञान की प्र-भावना – उत्कृष्ट भावना की अन्तर में और वृद्धि हो रही है।

देखो, यह श्रावक की दशा ! ऐसी दशा हो, तभी जन को श्रावकपना कहलाता है और मुनिदशा तो उसके पश्चात् होती है। उसने सर्वज्ञ का और सर्वज्ञ की वाणी का स्वयं निर्णय किया है। जिसे स्वयं निर्णय नहीं, वह सच्चे ज्ञान की क्या प्रभावना करेगा ? यह तो अपने ज्ञान में निर्णय कर लेनेवाले धर्मात्मा की बात है और धर्मात्मा को, विशेष बुद्धिमान को बहुमानपूर्वक शास्त्र देना, वह भी ज्ञानदान है। शास्त्रों का सच्चा अर्थ समझना, प्रसिद्ध करना भी ज्ञानदान का भेद है।

किसी साधारण मनुष्य को ज्ञान का विशेष प्रेम हो और उसे शास्त्र न मिलते हों तो धर्मी उसे प्रेमपूर्वक प्रबन्ध कर दे, ऐसा भाव धर्मी को आता है। अपने पास कोई शास्त्र हो और दूसरे के पास न हो तथा पढ़ने के लिए शास्त्र माँगने पर 'अन्य पढ़ेगा तो मुझसे आगे बढ़ जायेगा, मेरा समझना कम हो जावेगा' – ऐसी ईर्ष्यावश या मानवश वह न दे – ऐसे जीव को ज्ञान का सच्चा प्रेम नहीं और शुभभाव का भी ठिकाना नहीं।

भाई ! अन्य जीव ज्ञान में आगे बढ़ता हो तो भले बढ़े, तुझे उसका अनुमोदन करना चाहिए। तुझे ज्ञान का प्रेम हो तो अन्य भी ज्ञान प्राप्त करें – इसमें अनुमोदन होगा या ईर्ष्या ? अन्य के ज्ञान की जो ईर्ष्या आती है तो इससे ज्ञात होता है कि तुझे शास्त्र पढ़-पढ़कर मान का पोषण करना है, ज्ञान का सच्चा प्रेम नहीं है। ज्ञानप्रेमी को अन्य के ज्ञान की ईर्ष्या नहीं होती, परन्तु अनुमोदना होती है।

एक जीव बहुत समय से मुनि हो, दूसरा जीव पीछे से अभी ही मुनि हुआ हो और शीघ्र केवलज्ञान प्राप्त कर ले; वहाँ पहले मुनि को ऐसी ईर्ष्या नहीं होती कि अरे ! अभी आज ही तो दीक्षा ली और मुझसे पहले इसने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया; परन्तु अनुमोदना आती है कि वाह ! धन्य है कि इसने केवलज्ञान साध लिया, मुझे भी यही इष्ट है, मुझे भी यही करना है – इसप्रकार अनुमोदना द्वारा अपने पुरुषार्थ

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

को जागृत करता है। ईर्ष्या करनेवाला तो अटकता है और अनुमोदना करनेवाला अपने पुरुषार्थ को जागृत करता है।

अपने अन्तरंग में जहाँ ज्ञानस्वभाव का बहुमान है, वहाँ राग के समय भी ज्ञान की प्रभावना का और अनुमोदना का भाव आए बिना नहीं रहता। ज्ञान के बहुमान द्वारा वह थोड़े ही समय में केवलज्ञान प्राप्त करेगा। राग का फल केवलज्ञान नहीं, परन्तु ज्ञान के बहुमान का फल केवलज्ञान है और साथ में शुभराग से जो उत्तम पुण्यबन्ध है, उसके फल में समवशरण आदि की रचना होगी और इन्द्र महोत्सव करेंगे। अभी यहाँ चाहे किसी को खबर न हो, परन्तु केवलज्ञान होते ही तीन लोक में आश्चर्यकारी हलचल हो जावेगी, इन्द्र महोत्सव करेंगे और तीन लोक में आनन्द होगा।

अहो! यह तो वीतरागमार्ग है। वीतराग का मार्ग तो वीतराग ही होता है न? वीतरागभाव की वृद्धि हो – यही सच्ची मार्गप्रभावना है। राग को जो आदरणीय बतावे, वह जीव वीतरागमार्ग की प्रभावना कैसे कर सकता है? उसे तो राग की ही भावना है। जैनधर्म के चारों अनुयोगों के शास्त्रों का तात्पर्य वीतरागता है। धर्मीजीव वीतरागी तात्पर्य बतलाकर चारों अनुयोगों का प्रचार करे।

प्रथमानुयोग में तीर्थंकरादि महान् धर्मात्माओं के जीवन की कथा, चरणानुयोग में उनके आचरण का वर्णन, करणानुयोग में गुणस्थान आदि का वर्णन और द्रव्यानुयोग में अध्यात्म का वर्णन – इन चार प्रकार के शास्त्रों में वीतरागता का तात्पर्य है। इन शास्त्रों का बहुमानपूर्वक स्वयं अभ्यास करे, प्रचार और प्रसार करे। जवाहरात के गहने या बहुमूल्य वस्त्र आदि का कैसे प्रेम से घर में सँभालकर रखते हैं! इसकी अपेक्षा विशेष प्रेम से शास्त्रों को घर में विराजमान करे और सजाकर उनका बहुमान करे – यह सब ज्ञान का ही विनय है।

शास्त्रदान के सम्बन्ध में कुन्दकुन्द स्वामी के पूर्वभव की कथा प्रसिद्ध है। पूर्वभव में वे एक सेठ के यहाँ ग्वाले थे। एक बार उस ग्वाले को वन में कोई शास्त्र मिला, उसने अत्यन्त बहुमानपूर्वक किन्हीं मुनिराज को वह शास्त्र दान किया। उससमय अव्यक्तरूप से ज्ञान की अचिंत्य महिमा का कोई भाव पैदा हुआ, इससे वे उस सेठ के घर ही जन्मे; छोटी उम्र में ही मुनि हुए और ज्ञान का अगाध समुद्र उनको उल्लसित हुआ। अहा! उन्होंने तो तीर्थंकर परमात्मा की दिव्यवाणी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

साक्षात् सुनी और भरतक्षेत्र में ज्ञान की नहर चलाई। इनके अन्तर में ज्ञान की बहुत शुद्धि प्रगट हुई और बाह्य में भी श्रुत की महान् प्रतिष्ठा इस भरतक्षेत्र में उन्होंने की।

अहा, उनके निजवैभव की क्या बात! ज्ञानदान से अर्थात् ज्ञान के बहुमान के भाव से ज्ञान का क्षयोपशमभाव खिलता है और यहाँ तो उसका उत्कृष्ट फल बतलाते हुए कहते हैं कि वह जीव थोड़े भव में केवलज्ञान प्राप्त करेगा, उसे समवशरण की शोभा की रचना होगी और तीन लोक के जीव उसका उत्सव मनावेंगे; क्योंकि ज्ञानानन्दस्वभाव की आराधना साथ में वर्तती है अर्थात् आराधकभाव की भूमिका में ऐसा ऊँचा पुण्य बँधता है। उसमें धर्मी का लक्ष्य ज्ञानस्वभाव की आराधना पर है; राग अथवा पुण्य पर उसका लक्ष्य नहीं है, वह तो बीच में अनाज के साथ के भूसे की तरह सहज ही प्राप्त हो जाता है।

ज्ञानस्वभाव की आराधना से धर्मीजीव सर्वज्ञपद को साधता है। उसे किसीसमय ऐसा भी होता है कि अरे! हम भगवान के पास होते, भगवान की वाणी सुनते और भगवान से प्रश्नों का सीधा समाधान लेते; अब भरतक्षेत्र में भगवान का विरह हुआ, किनसे प्रश्न पूछूँ और कौन समाधान करे? – धर्मात्मा को सर्वज्ञ परमात्मा के विरह का ऐसा भाव आता है। भरत चक्रवर्ती जैसे को भी ऋषभदेव भगवान मोक्ष पधारे, तब ऐसा विरह का भाव आया था। अन्तरंग में निज के पूर्ण ज्ञान की भावना है कि अरे, इस पंचमकाल में अपने सर्वज्ञपद का हमको विरह! अर्थात् निमित्त में भी सर्वज्ञ का विरह सताता है।

इस भरतक्षेत्र में कुन्दकुन्दप्रभु को विचार आया – 'अरे नाथ! पंचमकाल में इस भरतक्षेत्र में आपका विछोह हुआ, सर्वज्ञता का विरह हुआ' – इसप्रकार सर्वज्ञ के प्रति भक्ति का भाव उल्लसित हुआ और उनका चिंतवन करने लगे। वहाँ पुण्य का योग था और पात्रता भी विशेष थी, सीमंधर भगवान के पास जाने का योग बना। अहा! भरतक्षेत्र का मनुष्य शरीरसहित विदेहक्षेत्र गया और भगवान से मिलाप हुआ। भगवान की दिव्यध्वनि साक्षात् श्रवण की और उन्होंने इस भरतक्षेत्र में श्रुतज्ञान की धारा बहाई। उन्हें आराधकभाव का विशेष जोर और साथ में पुण्य का भी महान् योग था। उन्होंने तो तीर्थंकर जैसा कार्य किया है।

आराधक का पुण्य लोकोत्तर होता है। तीर्थंकर के जीव को

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

गर्भ में आने में छह महिने की देर हो, अभी तो वह जीव (श्रेणिक आदि कोई) नरक में हो अथवा स्वर्ग में हो; इधर तो इन्द्र-इन्द्राणी आकर उनके माता-पिता का बहुमान करते हैं कि धन्य रत्नकोखधारिणी माता ! छह महिने पश्चात् आप की कोख में तीन लोक के नाथ तीर्थंकर आनेवाले हैं – ऐसा बहुमान करते हैं और जहाँ उनका जन्म होनेवाला हो, वहाँ प्रतिदिन करोड़ों रत्नों की वृष्टि करते हैं। छह मास पूर्व नरक में भी उस जीव को उपद्रव शांत हो जाते हैं। तीर्थंकर-प्रकृति का उदय तो तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान होगा, तब आवेगा; परन्तु उससे पूर्व उसके साथ ऐसा पुण्य होता है। (यहाँ उत्कृष्ट पुण्य की बात है, सभी आराधक जीवों को ऐसा पुण्य होता है – ऐसा नहीं, परन्तु तीर्थङ्कर होनेवाले जीव को ही ऐसा पुण्य होता है।) यह सब तो अचित्य बात है।

आत्मा का स्वभाव भी अचिंत्य और उसका जो आराधक हुआ, उसका पुण्य भी अचिंत्य। ऐसे आत्मा के लक्ष्य से श्रावक धर्मात्मा ज्ञानदान करता है। उसमें उसे राग का निषेध है और ज्ञान का आदर है; इसलिये वह केवलज्ञान प्राप्तकर तीर्थङ्कर होगा, तीन लोक के जीव उसका उत्सव मनायेंगे और उसकी दिव्यध्वनि से धर्म का निर्मल मार्ग चलेगा।

इसप्रकार ज्ञानदान का वर्णन किया।

सच्चा अभयदान ?

धर्मी जीव सम्यग्दर्शनादि द्वारा जिसप्रकार अपने दुःख को दूर करने का उपाय करता है, उसीप्रकार अन्य जीवों पर भी उसे करुणा के भाव आते हैं। जिसे जीव दया ही नहीं, उसे सच्चा धर्म अथवा दान कहाँ से हो ? सच्चा अभयपना यह है कि जिससे भवभ्रमण का भय दूर हो, आत्मा निर्भयरूप से सुख के मार्ग की ओर अग्रसर हो। अज्ञान ही सबसे बड़ा भय का कारण है। सम्यग्ज्ञान द्वारा ही वह भय दूर होकर अभयपना होता है; इसलिये जीवों को सम्यग्ज्ञान के मार्ग में लगाना सच्चा अभयदान है।

– पूज्य श्री कानजी स्वामी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

अभयदान का स्वरूप

सर्वेषांमभयं प्रवृद्धकरुणैर्यद्दीयते प्राणिनां,
दानं स्यादभयादि तेन रहितं दानत्रयं निष्फलम्।
आहारौषधशास्त्रदानविधिभिः क्षुद्रोगजाड्याद्भयं,
यत्तत्पात्रजने विनश्यति ततो दानं तदेकं परम् ॥११॥

सामान्यार्थ :– अतिशय करुणावान भव्यजीवों द्वारा समस्त प्राणियों को जो अभय दिया जाता है, वह अभयदान है। बाकी के तीनों दान इस जीवदया के बिना निष्फल हैं। आहारदान से क्षुधा का दुःख दूर होता है, औषधदान से रोग का भय दूर होता है और शास्त्रदान से अज्ञान का भय दूर होता है – इसप्रकार इन तीनों दानों से भी जीवों को अभय ही देने में आता है; इसलिए सब दानों में अभयदान ही एक श्रेष्ठ और प्रशंसनीय है।

श्लोक ११ पर प्रवचन

श्रावकधर्म के कथन में चार प्रकार के दानों का वर्णन चल रहा है। उसमें आहारदान, औषधदान तथा ज्ञानदान – इन तीन का वर्णन हुआ। अब चौथे अभयदान का वर्णन करते हैं।

जिसप्रकार धर्मीजीव अपनी आत्मा में सम्यग्दर्शनादि द्वारा दुःख दूर करने का उपाय करता है; उसीप्रकार 'अन्य जीवों को भी दुःख न हो, उनका दुःख मिटे' ऐसे करुणा के भाव होते हैं। जिसे जीवदया भी न हो, उसका तो एक भी दान सच्चा नहीं होता। किसी जीव को मारने की अथवा दुःख देने की वृत्ति धर्मी को नहीं होती, उसे तो सब जीवों के प्रति

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

करुणा होती है। दुःखी जीवों के प्रति करुणापूर्वक पात्र-अनुसार अहार, औषध अथवा ज्ञान आदि देकर उनका भय मिटाता है। देखो ! ऐसे करुणा के परिणाम श्रावक को सहज ही होते हैं।

सच्चा अभयदान तो उसे कहते हैं कि जिससे भवभ्रमण का दुःख टले और आत्मा निर्भयरूप से सिद्ध के पन्थ की ओर अग्रसर हो। अज्ञान और मिथ्यात्व ही जीव के लिए सबसे बड़ा भय और दुःख का कारण है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होने पर वह भय दूर होकर आत्मा अभयपना प्राप्त करता है; इसलिये जीवों को सम्यग्ज्ञान के मार्ग में लगाना ही बड़ा अभयदान है और इसीलिये भगवान को भी अभयदाता (अभयदयाणम्) कहा जाता है।

भगवान और सन्त कहते हैं कि हे जीव ! तू अपने स्वरूप को पहचानकर निर्भय हो। शंका का नाम भय है; जिसको स्वरूप में शंका है उसको मरण आदि का भय कभी नहीं मिटता। सम्यग्दृष्टि जीव ही निःशंक होने से निर्भय हैं, उन्हें मरण आदि सात प्रकार के भय नहीं होते। श्रीमद् कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं :–

"सम्माद्दिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका॥[1]

सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक होते हैं, इसलिए निर्भय होते हैं, क्योंकि वे सप्त भयों से रहित होते हैं, इसलिए निःशंक होते हैं।"

स्वरूप की भ्रान्ति दूर हुई, वहाँ भय दूर हो गया। शरीर ही मैं नहीं, मैं तो शाश्वत ज्ञानमय आत्मा हूँ; तब मेरा मरण कैसा ? और जब मरण ही नहीं तो मरण का भय कैसा ? मिथ्यात्व में मरण का भय था; मिथ्यात्व दूर हुआ, वहाँ मरणादि का भय मिटा। इसके अतिरिक्त रोगादि का अथवा सिंह-बाघ का भय थोड़े समय के लिए चाहे मिट जावे; परन्तु जबतक यह भय न मिटे, तबतक जीव को सच्चा सुख नहीं होता।

इसप्रकार ज्ञानी समझाते हैं कि हे भाई ! तू तो ज्ञानस्वरूप है; इस देह का जन्म-मरण वह वास्तव में तेरा स्वरूप नहीं; अज्ञान से तूने देह को अपना मानकर उसमें सुख की कल्पना की है; इससे तुझे रोग का क्षुधा का, मरणादि का भय लगता है; परन्तु देह से भिन्न वज्र जैसा जो

---

1. समयसार गाथा २२८

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तेरा ज्ञानस्वरूप है, वह निर्भय है, उसे अन्तर में देखने से परसम्बन्धी कोई भय तुझे नहीं रहेगा – इसप्रकार नित्य अभयस्वरूप समझकर ज्ञानी सच्चा अभयदान देता है, उसमें सब दान समाविष्ट हो जाते हैं। परन्तु जो जीव ऐसी समझने को योग्यतावाले न हों – ऐसे दुःखी जीवों पर भी श्रावक करुणा करके जिसप्रकार उनका भय कम हो, उसप्रकार उन्हें आहार, औषध आदि का दान देता है। अपनी आत्मा का भय दूर हुआ है और अन्य को अभय देने का शुभभाव आता है – ऐसी श्रावक की भूमिका है। अपना ही भय जिसने दूर नहीं किया, वह अन्य का भय कहाँ से मिटावेगा ? अज्ञानी को भी जो करुणाभाव आता है, दान का भाव आता है; उसमें उसे भी शुभभाव है, परन्तु ज्ञानी जैसा उत्तम प्रकार का भाव उसे नहीं होता।

देखो ! कितने ही जीव असंयमी जीवों के प्रति दया-दान के परिणाम को पाप बतलाते हैं. यह तो अत्यन्त विपरीतता है। भूखे को कोई खिलावे, प्यासे को पानी पिलावे, दुष्काल हो, गायें घास के बिना मरती हों और कोई दयाभाव से उन्हें घास आदि खिलावे तो उससे कोई पाप नहीं है; उसके भाव दया के हैं, वे पुण्य के कारण हैं। जीव दया के भाव में पाप बताना तो बहुत बड़ी विपरीतता है। धर्म की बात तो दूर, परन्तु इसे तो पुण्य और पाप के बीच का भी विवेक नहीं है।

इसीप्रकार कोई जीव पंचेन्द्रिय आदि जीवों की हिंसा करके उसमें धर्म मानता है, वह तो महान पापी है। ऐसे हिंसामार्ग को जिज्ञासु कभी ठीक नहीं मानते। एक भी जीव को मारने का अथवा दुःखी करने का भाव धर्मी श्रावक को नहीं होता। अरे ! जो वीतरागमार्ग को साधने आया, उसके परिणाम तो कितने कोमल होते हैं !

पद्मनन्दि स्वामी कहते हैं कि मेरे निमित्त से किसी प्राणी को दुःख न हो। किसी को मेरी निन्दा से अथवा मेरे दोष देखने से सन्तोष होता हो तो वह इसप्रकार भी सुखी होवे; किसी को इस देहनाश की इच्छा हो तो वह यह देह लेकर भी सुखी होवे अर्थात् हमारे निमित्त से किसी को भय न हो, दुःख न हो अर्थात् हमें किसी के प्रति द्वेष अथवा क्रोध न हो – इसप्रकार स्वयं अपने वीतरागभाव में रहना चाहते हैं।

यहाँ तो मुख्यता से चारित्रवंत मुनि की बात है, उसमें गौणरूप से श्रावक भी आ जाता है; क्योंकि श्रावक को भी अपनी भूमिका-अनुसार ऐसी ही भावना होती है। सामनेवाला जीव स्वयं अपने गुण-दोष के

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कारण अभयपना प्राप्त करे अथवा न करे – यह उसके आधीन है, परन्तु ज्ञानी को अपने भाव में सब जीवों को अभय देने की वृत्ति है।

हमारा कोई शत्रु नहीं, हम किसी के शत्रु नहीं – ऐसी भावना में ज्ञानी को अनन्तानुबन्धी कषाय का पूर्ण अभाव है। तत्पश्चात् अन्य राग-द्वेष आदि की भी बहुत मंदता हो गई है और श्रावक को तो (पंचम गुणस्थान में) इससे भी अधिक राग दूर हो गया है, हिंसादि के परिणाम छूट गये हैं। इसप्रकार यह श्रावक के देशव्रत का प्रकाशन है।

आत्मा का चिदानंदस्वभाव पूर्ण राग रहित है, उसे जिसने श्रद्धा में लिया है अथवा श्रद्धा में लेना चाहता है – ऐसे जीव को राग की कितनी मंदता हो, देव-गुरु-धर्म की तरफ परिणाम किसप्रकार के हों, सर्वज्ञ की पहचान कैसी हो – इन सब भेदों का इस अधिकार में मुनिराज ने बहुत सुन्दर वर्णन किया है। यह सभा में तीसरी बार पढ़ा जा रहा है। महापुण्य हो, तभी जैनधर्म का और सत्यश्रवण का ऐसा योग प्राप्त होता है; उसे समझने के लिए अन्तर में बहुत पात्रता होनी चाहिये।

राग का एक कण भी जिसमें नहीं – ऐसे स्वभाव का श्रवण करने में और उसे समझने की पात्रता में जो जीव आया; उसे स्थूल अनीति का, तीव्र कषायों का, मद्य-माँस-मधु आदि अभक्ष्यों के भक्षण का तथा कुदेव-कुगुरु-कुमार्ग के सेवन का तो त्याग होता ही है और सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का आदर, साधर्मी का प्रेम, परिणामों की कोमलता, विषयों की मिठास का त्याग, वैराग्य का रंग – ऐसी योग्यता होती है। ऐसी पात्रता बिना ही तत्त्वज्ञान हो जाय – ऐसा नहीं है।

भरतचक्रवर्ती के छोटी-छोटी उम्र के राजकुमार भी आत्मा के भान सहित राजपाट में थे, उनका अंतरंग जगत से उदास था। छोटे राजकुमार राजसभा में आकर दो घड़ी बैठते हैं, वहाँ भरतजी राजभंडार में से करोड़ों सोने की मोहरें उन्हें देने को कहते हैं; परन्तु छोटे से कुमार वैराग्य से कहते हैं – पिताजी! ये सोने की मोहरें राजभंडार में ही रहने दो, हमें इनका क्या करना है? हम तो मोक्षलक्ष्मी की साधना के लिए आये हैं, पैसा एकत्रित करने के लिए नहीं। पर के साथ हमारे सुख का सम्बन्ध नहीं है; पर से निरपेक्ष हमारा सुख हमारी आत्मा में है – ऐसा दादाजी (ऋषभदेव भगवान) के प्रताप से हमने समझा है और इसी सुख को साधना चाहते हैं। देखो, कितना वैराग्य! यह तो पात्रता समझने के लिए एक उदाहरण दिया।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इसप्रकार धर्म की योग्यतावाले जीव को अन्य सब पदार्थों की अपेक्षा आत्मस्वभाव का, देव-गुरु-धर्म का विशेष प्रेम होता है और सम्यक्ज्ञान सहित वह रागादि को दूर करता जाता है। वहाँ बीच-बीच में दान के प्रकार देवपूजा आदि किसप्रकार के होते हैं—यह बताया। अब उस दान का फल कहेंगे।

तुझे मोक्षमार्गी होना है न ?

अरे जीव! तुझे मोक्षमार्गी होना है न! तो संसारमार्गी जीवों से मोक्षमार्गी जीवों के लक्षण सर्वथा भिन्न होते हैं, इसलिये प्रतिकूलता इत्यादि के समय संसारी जीवों के समान प्रवर्तन मत कर; किन्तु मोक्षमार्गी धर्मात्माओं की प्रवृत्ति को लक्ष्य में लेकर उनके समान प्रवर्तन कर; मोक्षमार्ग में दृढ़ रहना मोक्षमार्गी धर्मात्माओं के जीवन को तुझे आदर्शरूप रखना चाहिये।

भाई! जीवन में प्रतिकूलता के छोटे-बड़े प्रसंग तो आयेंगे ही, कभी मान-अपमान के प्रसंग प्राप्त होंगे; किन्तु ऐसे प्रसंगों के समय नित्य चैतन्य के स्वामित्व और ज्ञान-वैराग्य के बल से मोक्षमार्ग को सुरक्षित रखना। किसी को प्रतिकूल मानकर मोक्षमार्ग से विचलित मत हो जाना; किन्तु मैं तो मोक्षमार्गी हूँ, मुझे तो मोक्ष की साधना करना है—इसप्रकार दृढ़ता से सहनशीलता धारण करना। ऐसे प्रसंग के समय यदि तू भी साधारण संसारी जीवों के समान ही प्रवर्तन करेगा तो उनमें और तेरे में अन्तर क्या रहा? संसारी जीवों से मोक्ष की साधना करनेवाले जीवों के परिणामों की धारा सर्वथा भिन्न प्रकार की होती है।

—पूज्य श्री कानजी स्वामी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

(१२)

दान का फल

आहारात्सुखितौषधादतितरां निरोगता जायते,
शास्त्रात्पात्रनिवेदितात्परभवे पाण्डित्यमत्यद्भुतम्।
एतत्सर्वगुणप्रभापरिकरः पुंसोऽभयात् दानतः
पर्यन्ते पुनरुन्नतोन्नतपदप्राप्तिर्विमुक्तिस्ततः ॥१२॥

सामान्यार्थ :– उत्तम पात्रों को आहारदान देने से परभव में स्वर्गादि सुख की प्राप्ति होती है, औषधिदान से अतिशय निरोगता और सुन्दर रूप मिलता है, शास्त्रदान से अत्यन्त अद्भुत विद्वत्ता होती है और अभयदान से जीव को इन सब गुणों का परिवार प्राप्त होता है, तथा क्रमशः ऊँची पदवी को प्राप्त कर वह जीव मोक्ष प्राप्त करता है।

श्लोक १२ पर प्रवचन

सर्वज्ञकथित वस्तुस्वरूप का निर्णय करके जिसने सम्यग्दर्शन प्रगट किया है, उसके पश्चात् मुनिदशा की भावना होते हुए भी जो महाव्रत अंगीकार नहीं कर सकता, इसलिये श्रावकधर्मरूप देशव्रत का पालन करता है – ऐसे जीव को आहारदान, औषधदान, शास्त्रदान, अभयदान – ऐसे चार प्रकार के दान के भाव आते हैं, उनका वर्णन किया। अब यहाँ दान का फल बतलाते हैं :–

देखो, यह दान का फल! श्रावकधर्म के मूल में जो सम्यग्दर्शन है, उसे लक्ष्य में रखकर यह बात समझनी है। सम्यक्त्व की भूमिका में दानादि शुभभावों से ऐसा उत्कृष्ट पुण्य बँधता है कि इन्द्रपद, चक्रवर्तीपद आदि प्राप्त होते हैं; किन्तु उस पुण्यफल में हेयबुद्धि है, इसलिये वह राग को छोड़कर, वीतराग होकर मोक्ष प्राप्त करेगा। इस अपेक्षा से उपचार

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

करके दान के फल से आराधक जीवों को मोक्ष की प्राप्ति कही है; परन्तु जो जीव सम्यग्दर्शन प्रगट न करे और मात्र शुभराग से ही मोक्ष होना मानकर उनमें रुक जावे, वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता, उसे तो श्रावकपना भी सच्चा नहीं होता।

दान के फलस्वरूप पुण्य से स्वर्ग के सुख, निरोग व रूपवान शरीर, चक्रवर्तीपद का वैभव आदि मिलें; उनमें ज्ञानी को कोई सुखबुद्धि नहीं; अन्तर के चैतन्यसुख को प्रतीति और अनुभव में लिया है, उसके अतिरिक्त अन्य कहीं पर उसे सुख नहीं भासता।

दान के फल में किसी को ऐसी ऋद्धि प्रगट हो कि उसके शरीर के स्नान का पानी छिड़कते ही अन्य का रोग मिट जावे और मूर्च्छा दूर हो जावे। शास्त्रदान से ज्ञान वरण का क्षयोपशम होता है और आश्चर्यकारी बुद्धि प्रगट होती है।

देखो न! ग्वाले के भव में शास्त्रदान देकर ज्ञान का बहुमान किया तो इस भव में कुन्दकुन्दाचार्यदेव को कैसा श्रुतज्ञान प्रगटा और कैसी लब्धि प्राप्त हुई? वे तो ज्ञान के अगाध सागर थे, उन्हें इस पंचमकाल में तीर्थंकर भगवान की साक्षात् दिव्यध्वनि सुनने को मिली। मंगलाचरण के श्लोक में महावीर भगवान और गौतम गणधर के बाद 'मंगलं 'कुन्दकुन्दार्यो' – कहकर तीसरा नाम उनका लिया जाता है।

देव-गुरु-शास्त्र के अनादर से जीव को तीव्र पाप बँधता है और देव-गुरु-शास्त्र के बहुमान से जीव को ज्ञानादि प्रगट होते हैं। जिसप्रकार अनाज के साथ घास तो सहज ही पकता है; परन्तु चतुर किसान घास के लिये बोनी नहीं करता, उसकी दृष्टि तो अनाज पर है। इसीप्रकार धर्मात्मा को शुद्धता के साथ रहनेवाले शुभ से ऊँचा पुण्य बँधता है और चक्रवर्ती आदि उच्च पद सहज ही मिलते हैं; परन्तु उसकी दृष्टि तो आत्मा की शुद्धता के साधन पर है, पुण्य अथवा उसके फल की वाञ्छा उसे नहीं। जिन्हें पुण्य के फल की वाञ्छा है – ऐसे मिथ्यादृष्टि को ऊँचा पुण्य नहीं बँधता; चक्रबर्ती आदि ऊँची पदवी के योग्य पुण्य मिथ्यादर्शन की भूमिका में नहीं बँधता।

सम्यग्दर्शन रहित जीव मुनिराज आदि उत्तम पात्र को आहारदान दे अथवा अनुमोदना करे तो उसके फल में वह भोगभूमि में उत्पन्न होता है, वहाँ असंख्य वर्ष की आयु होती है और दस प्रकार के कल्पवृक्ष उसे पुण्य का फल देते हैं। ऋषभदेव आदि जीवों ने पूर्व में मुनियों को

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आहारदान दिया – इससे वे भोगभूमि में जन्मे और वहाँ मुनि के उपदेश से सम्यग्दर्शन प्राप्त किया था। श्रेयांसकुमार ने ऋषभदेव भगवान को आहारदान दिया, उसकी महिमा तो प्रसिद्ध है।

इसप्रकार के भक्ति, पूजा, आहारदान आदि शुभभाव श्रावक को को होते हैं; ऐसी ही उसकी भूमिका है। वर्तमान में उसने राग को दृष्टि में तो हेय किया है अर्थात् दृष्टि के बल से अल्पकाल में ही चारित्र प्रगट कर – राग को सर्वथा दूर कर वह मुक्ति प्राप्त करेगा।

सामनेवाला जीव धर्म की आराधना कर रहा हो तो उसे देखकर धर्मी को उसके प्रति प्रमोद, बहुमान और भक्ति का भाव उल्लसित होता है; क्योंकि स्वयं को उस आराधना का तीव्र प्रेम है अर्थात् उसके प्रति भक्ति से (मैं उस पर उपकार करता हूँ – ऐसी बुद्धि से नहीं, परन्तु आदरपूर्वक) शास्त्रदान, आहारदान आदि के भाव आते हैं। इस बहाने वह स्वयं अपने राग को घटाता है और आराधना की भावना को पुष्ट करता है।

देखो ! यह तो वीतरागी संतों ने वस्तुस्वरूप प्रगट किया है। वे अत्यन्त निःस्पृह थे, उन्हें कोई परिग्रह नहीं था, उन्हें जगत से कुछ लेना नहीं था। धर्मीजीव भी निःस्पृह होता है, उसे भी किसी से लेने की इच्छा नहीं होती है। लेने की वृत्ति तो पाप है। धर्मीजीव तो दानादि द्वारा राग घटाना चाहता है। किसी धर्मी को विशेष पुण्य से बहुत वैभव भी हो, उससे 'उसे अधिक राग है' – ऐसा नहीं। राग का माप संयोग से नहीं।

यहाँ तो धर्म की निचली भूमिका में (श्रावकदशा में) धर्म कितना हो, राग कैसा हो और उसका फल क्या हो; वह बतलाया है। वहाँ जितनी वीतरागता हुई है, उतना धर्म है और उसका फल तो आत्मशान्ति का अनुभव है। स्वर्गादि वैभव मिले; वह कोई वीतरागभावरूप धर्म का फल नहीं, वह तो राग का फल है।

कोई जीव यहाँ ब्रह्मचर्य पाले और स्वर्ग में उसे अनेक देवियाँ मिले, तो क्या ब्रह्मचर्य के फल में देवियाँ मिलीं ? नहीं; ब्रह्मचर्य में जितना राग दूर हुआ और वीतरागभाव हुआ, उसका फल तो आत्मा में शान्ति है; परन्तु अभी वह पूर्ण वीतराग नहीं हुआ अर्थात् अनेक प्रकार के शुभ और अशुभ राग बाकी रह गये हैं। अभी धर्मी को जो शुभराग बाकी रह गया है, उसके फल में वह कहाँ जायेगा ? क्या नरकादि नीच गति में

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जावेगा ? नहीं; वह तो देवलोक में ही जावेगा अर्थात् देवलोक की प्राप्ति राग का फल है, धर्म का नहीं।

यहाँ पुण्य का फल बतलाकर कोई उसका लालच नहीं कराते, परन्तु राग घटाने का उपदेश देते हैं। जिसप्रकार स्त्री, शरीर आदि के लिए अशुभभाव से शक्ति-अनुसार उत्साहपूर्वक खर्च करता है, वहाँ अन्य को यह कहना नहीं पड़ता कि तू इतना खर्च कर। इसीप्रकार जिसे धर्म का प्रेम है; वह जीव स्वप्रेरणा से देव-गुरु-धर्म की भक्ति, पात्रदान आदि में बारम्बार अपनी लक्ष्मी का उपयोग करता है – इसमें वह किसी के कहने की राह नहीं देखता। राग तो अपने लिए घटाना है न ? किसी अन्य लिए राग नहीं घटाना है; इसलिए धर्मीजीव चतुर्विध दान द्वारा अपने राग को घटावे – ऐसा उपदेश है।

अनेक प्रकार के आरम्भ और पाप से भरे हुये गृहस्थाश्रम में पाप से बचने के लिए दान मुख्य कार्य है; उसका उपदेश आगे की छह गाथाओं में करेंगे।

०००००

अलौकिक श्रावकदशा

अहा ! जिसे सर्वज्ञ के धर्म की महिमा आई है, अन्तर्दृष्टि से आत्मा के धर्म को जो साधता है, महिमापूर्वक वीतरागभाव में जो आगे बढ़ता है और तीव्र राग घटने से जिसे श्रावकपना हुआ है – उस श्रावक के भाव कैसे होते है, उसकी यह बात है। सर्वार्थसिद्धि के देव की अपेक्षा जिसकी पदवी ऊँची है और स्वर्ग के इन्द्र की अपेक्षा जिसे आत्मसुख अधिक है – ऐसी अलौकिक श्रावकदशा है। वह श्रावक भी हमेशा दान करता है। मात्र लक्ष्मी की लोलुपता में, पापभाव में जीवन बिता दे और आत्मा की कोई जिज्ञासा न करे – ऐसा जीवन धर्मी का अथवा जिज्ञासु का नहीं होता।

— पूज्य श्री कानजी स्वामी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

गृहस्थ दान क्यों करे ?

कृत्वाऽकार्यशतानि पापबहुलान्याश्रित्य खेदं परं
भ्रान्त्वा वारिधिमेखलां वसुमतीं दुःखेन यच्चार्जितम् ।
तत्पुत्रादपि जीवितादपि धनं प्रियोऽस्य पन्था शुभो
दानं तेन च दीयतामिदमहो नान्येन तत्संगतिः ॥१३॥

सामन्यार्थ :— जो धन पाप से भरे हुए सैकड़ों अकार्य करके समुद्र, पवत और पृथ्वी में भ्रमण करके तथा अनेक प्रकार के कष्ट से महाखेद भोगकर बहुत दुःख से प्राप्त किया जाता है; वह धन जीवों को अपने पुत्र और जीवन की अपेक्षा भी अधिक प्यारा है। ऐसे धन का उपयोग करने का उत्तम मार्ग एक दान ही है; इसके सिवाय धन खर्च करने का कोई उत्तम मार्ग नहीं।

श्लोक १३ पर प्रवचन

यहाँ गृहस्थ को दान की प्रधानता का उपदेश देते है।

आचार्यदेव कहते हैं कि अहो, भव्यजीवो ! तुम ऐसा दान करो। देखो ! आजकल तो जीवों को पैसा कमाने के लिए कितना पाप करना और झूठ बोलना पड़ता है ? समुद्रपार के देश में जाकर अनेक प्रकार के अपमान सहन करे, 'सरकार पैसा ले लेगी' — इस भय से ही दिन-रात भयभीत रहा करे — इसप्रकार पैसे के लिए कितना कष्ट सहन करता है और कितने पाप करता है ? इसके लिए अपना बहुमूल्य जीवन भी नष्ट कर देता है, पुत्रादि का भी वियोग सहन करता है।

इसप्रकार वह जीवन की अपेक्षा और पुत्र की अपेक्षा धन को प्यारा गिनता है, तो आचार्यदेव कहते हैं कि भाई ! ऐसा प्यारा धन,

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जिसके लिये तूने कितने ही पाप किये; उस धन का सच्चा – उत्तम उपयोग क्या ? – इसका विचार कर। स्त्री-पुत्र के लिए अथवा विषयभोगों के लिए तू जितना धन खर्च करेगा, उसमें तो तुझे उल्टा पापबन्ध होगा; इसलिए लक्ष्मी की सच्ची गति यह है कि राग घटाकर देव-गुरु-धर्म की प्रभावना, पूजा-भक्ति, शास्त्रप्रचार, दान आदि उत्तम कार्यों में उसका उपयोग करना।

प्रश्न :– क्या बच्चों के लिए कुछ न रखना ?

उत्तर :– भाई यदि तेरा पुत्र सुपुत्र और पुण्यवत होगा तो वह तुझसे सवाया धन प्राप्त करेगा और यदि वह पुत्र कुपुत्र होगा तो तेरी इकट्ठी की हुई सारी लक्ष्मी को भोगविलास में नष्ट कर देगा और पाप-में उपयोग करके तेरे धन को धूल कर डालेगा, तो फिर तुझे किसके लिये धनसंचय करना है ? पुत्र का नाम लेकर तुझे अपने लोभ का पोषण करना हो तो अलग बात है। अन्यत्र कहा है : –

पूत सपूत तो क्यों धन संचय ?
पूत कपूत तो क्यों धन संचय ?

अतः हे जीव ! लोभादि पाप के कुएँ में से तेरी आत्मा का रक्षण हो – ऐसा कर; लक्ष्मी के रक्षण की ममता छोड़ और दानादि द्वारा तेरी तृष्णा को घटा। वीतरागी संतों को तो तेरे पाप से कुछ नहीं चाहिए; परन्तु जिसे पूर्ण राग रहित स्वभाव की रुचि उत्पन्न हुई है, वीतराग-स्वभाव की तरफ जिसका परिणमन होने लगा, उसको राग घटे बिना नहीं रहता। किसी के कहने से नहीं, परन्तु अपने सहज परिणाम से ही मुमुक्षु को राग घट जाता है।

धर्मी गृहस्थ को कैसे विचार होते हैं ? – इस सम्बन्ध में समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है :–

यदि पापनिरोधोऽन्यसम्पदा किं प्रयोजनम्।
अथ पापास्रवोऽस्त्यन्यसम्पदा किं प्रयोजनम् ॥२७॥

यदि मेरे पाप का आस्रव रुक गया है तो उससे मुझे मेरे स्वरूप की सम्पदा प्राप्त होगी; वहाँ अन्य सम्पदा का मुझे क्या काम ? और यदि मुझे पाप का आस्रव हो रहा है तो ऐसी सम्पदा से मुझे क्या लाभ है ? जिस सम्पदा के मिलने से पाप बढ़ता हो और स्वरूप की सम्पदा लुटती हो – ऐसी सम्पदा किस काम की ?

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इसप्रकार दोनों तरह से सम्पदा का असारपना जानकर धर्मी उसका मोह छोड़ता है। जो मात्र लक्ष्मी की लोलुपता के पापभाव में जीवन बिता दे और आत्मा की कोई जिज्ञासा न करे – ऐसा जीवन धर्मी का अथवा जिज्ञासु का नहीं होता। अहो ! जिसे सर्वज्ञ की महिमा आयी है, जो अन्तर्दृष्टि से आत्मा के स्वभाव को साधते हैं, महिमापूर्वक वीतरागमार्ग में आगे बढ़ते हैं और जिसे तीव्र राग घटने से श्रावकपना प्रगट हुआ है – ऐसे श्रावक के भाव कैसे हों, उसकी यह बात है।

सवार्थसिद्धि के देव की अपेक्षा जिसकी पदवी ऊँची है, स्वर्ग के इन्द्र की अपेक्षा जिसका आत्मसुख अधिक है – ऐसी श्रावकदशा है। जिसे स्वभाव के सामर्थ्य का भान है, जो विभाव की विपरीतता समझता है और पर को पृथक् देखता है – ऐसा श्रावक राग के त्याग द्वारा अपने में प्रतिक्षण शुद्धता का दान करता है और बाहर में अन्य को भी रत्नत्रय के निमित्तरूप शास्त्र आदि का दान देता है।

अहो ! ऐसा मनुष्यभव प्राप्त करके आत्मा की जिज्ञासा एवं उसके ज्ञान की कीमत आनी चाहिये। श्रावक को स्वाध्याय, दान आदि शुभ-भाव विशेषरूप से होते हैं। जिसे ज्ञान का रस हो – प्रेम हो, वह हमेशा स्वाध्याय करे; नये-नये शास्त्रों के स्वाध्याय करने से ज्ञान की निर्मलता बढ़ती जाती है, उसे नये-नये वीतरागभाव प्रगट होते जाते हैं। 'अपूर्व तत्त्व के श्रवण और स्वाध्याय करने से उसे ऐसा लगता है कि अहो ! आज मेरा दिन सफल हुआ। छह प्रकार के अन्तरंग तपों में ध्यान के पश्चात् दूसरा नम्बर स्वाध्याय का कहा है।

श्रावक को सब पक्षों का विवेक होता है। वह स्वाध्याय आदि की तरह देवपूजा आदि कार्यों में भी भक्तिभाव से वर्तता है। श्रावक को भगवान सर्वज्ञदेव के प्रति परमप्रीति होती है, यह तो उसका इष्ट ध्येय है। इसप्रकार जीवन में यह भगवान की ही इच्छा रखता है। चलते-फिरते प्रत्येक प्रसंग में उसे भगवान याद आते हैं।

वह नदी के झरने की कल-कल अवाज सुनकर कहता है कि हे प्रभो ! आपने पृथ्वी का त्याग कर दीक्षा ली – इसकारण अनाथ हुई यह पृथ्वी कलरव करती हुई विलाप करती है और यह उसके आँसुओं का प्रवाह है।

वह आकाश में सूर्य-चन्द्र को देखकर कहता है कि हे प्रभो ! आपने शुक्लध्यान द्वारा घातिया कर्मों को जब भस्म किया, तब उसके स्फुलिंग

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आकाश में उड़े; वे स्फुलिंग ही इन सूर्य-चन्द्र के रूप में उड़ते दिखाई दे रहे हैं। ध्यान अग्नि में भस्म होकर उड़ते हुए कर्म के समूह बादलों के रूप में अभी भी जहाँ-तहाँ घूम रहे हैं।

ऐसी उपमाओं द्वारा श्रावक भगवान के शुक्लध्यान को याद करता है और स्वयं भी उसकी भावना भाता है। ध्यान की अग्नि वैराग्य की हवा से प्रज्वलित हो गई और उससे कर्म भस्म हो गये, उसमें सूर्य-चन्द्ररूपी स्फुलिंग उड़े। ध्यानस्थ भगवान के बाल हवा में फर्र फर्र उड़ते देखकर कहता है कि ये बाल नहीं; ये तो भगवान के अन्तर में ध्यान द्वारा जो कर्म जल रहे हैं, उनका धुआँ उड़ रहा है। इसप्रकार उसे सर्वज्ञदेव को पहिचान कर उनको भक्ति का रंग लगा है।

इसके साथ गुरु की उपासना, शास्त्र का स्वाध्याय आदि भी होता है। शास्त्र तो कहते हैं कि अरे! कान द्वारा जिसने वीतरागी सिद्धान्त का श्रवण नहीं किया और मन में उसका चिन्तवन नहीं किया, उसे कान और मन मिलना न मिलने के बराबर ही है। आत्मा की जिज्ञासा नहीं करे तो कान और मन दोनों गुमाकर एकेन्द्रिय में चला जायगा। कान की सफलता इसमें है कि धर्म का श्रवण करे, मन की सफलता इसमें है कि आत्मिक गुणों का चिंतन करे और धन की सफलता इसमें है कि सत्पात्र के दान में उसका उपयोग हो।

भाई! अनेक प्रकार के पाप करके तूने धन इकट्ठा किया तो अब परिणामों को पलटकर उसका ऐसा उपयोग कर कि जिससे तेरे पाप धुलें और तुझे उत्तम पुण्य बँधे। इसका उपयोग तो धर्म के बहुमानपूर्वक सत्पात्र दान करना ही है।

लोगों को यह धन जीवन से और पुत्र से भी प्यारा होता है; परन्तु धर्मी श्रावक को धन की अपेक्षा धर्म प्यारा है, इसलिए उसे धर्म के लिए धन खर्चने में उल्लास आता है; इसलिए श्रावक के घर में अनेक प्रकार दान के कार्य निरन्तर चला करते हैं। धर्म और दान रहित घर को तो श्मशानतुल्य गिनकर कहते हैं कि ऐसे गृहवास को गहरे पानी में जाकर स्वाहा कर देना। जो एकमात्र पापबन्ध का ही कारण हो – ऐसे गृहवास को तू तिलांजलि देना, पानी में डुबो देना।

अरे! वीतरागी सन्त इस दान का गुंजार करते हैं, उसे सुनकर किन भव्यजीवों के हृदयकमल न खिल उठें? किसे उत्साह नहीं आवे? भ्रमर के गुंजार से और चन्द्रमा के उदय से कमल की कली तो खिल

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उठती है, पत्थर नहीं खिलता है; उसीप्रकार इस उपदेशरूपी गुँजार को सुनकर धर्म की रुचिवाले जीव का हृदय तो खिल उठता है कि वाह ! देव-गुरु-धर्म की सेवा का अवसर आया। मेरा भाग्य है जो मुझे देव-गुरु का काम मिला। इसप्रकार उल्लसित होता है।

शास्त्र में कहते हैं कि शक्तिप्रमाण दान करना। तेरे पास एक रुपये की पूँजी हो तो उसमें से एक पैसा दान करना; परन्तु दान अवश्य करना, लोभ घटाने का अभ्यास अवश्य करना। लाखों करोड़ों की पूँजी हो, तभी दान दिया जा सके और ओछी पूँजी हो, उसमें दान नहीं दिया जा सके – ऐसा कुछ नहीं है। स्वयं के लोभ घटाने की बात है, इसमें कोई पूँजी की मात्रा नहीं देखना है।

उत्तम श्रावक कमाई का चौथा भाग धर्म में खर्च करे, मध्यमपने छठवाँ भाग खर्च करे और कम से कम दसवाँ अंश खर्च करे – ऐसा उपदेश है। चन्द्रकान्तमणि की सफलता कब ? कि चन्द्रमा के संयोग से उसमें पानी झरने लगे तब; उसीप्रकार लक्ष्मी की सफलता कब ? कि सत्पात्र के प्रति वह दान में खर्च हो तब। धर्मी को ऐसा भाव होता ही है, परन्तु उदाहरण से अन्य जीवों को समझाते हैं।

संसार में लोभी जीव धनप्राप्ति के लिए कैसे-कैसे पाप करते हैं ? लक्ष्मी तो पुण्यानुसार मिलती है; परन्तु उसकी प्राप्ति के लिए बहुत-से जीव झूठ-चोरी आदि अनेक प्रकार के पापभाव करते हैं। कदाचित् कोई जीव ऐसे भाव न करे और प्रामाणिकता से व्यापार करे तो भी लक्ष्मी प्राप्त करने का भाव तो पाप ही है।

यह बतलाकर यहाँ ऐसा कहते हैं कि भाई ! जिस लक्ष्मी के लिए तू इतने-इतने पाप करता है और जो लक्ष्मी तुझे पुत्रादि की अपेक्षा भी अधिक प्यारी है, उस लक्ष्मी का उत्तम उपयोग यही है कि उसे सत्पात्र दान आदि धर्मकार्यों में खर्च; सत्पात्र दान में खर्ची गई लक्ष्मी असंख्यगुणी होकर फलेगी।

एक आदमी चार-पाँच हजार रुपये के नये नोट लाया और घर आकर स्त्री को दिये। उस स्त्री ने उन्हें चूल्हे के पास रख दिया और अन्य काम से जरा दूर चली गई। उसका छोटा लड़का पीछे सिगड़ी के पास बैठा था। सर्दी के दिन थे। लड़के ने नोट की गड्डी उठाकर सिगड़ी में डाल दी। अग्नि भड़क गई और वह तापने लगा। इतने में माँ आई। लड़का कहने लगा – माँ, देख ! मैंने सिगड़ी कैसी कर दी। देखते ही माँ समझ गई

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कि अरे ! इसने तो पाँच हजार रुपयों की राख कर दी। उसे ऐसा क्रोध चढ़ा कि उसने लड़के को इतना अधिक मारा कि लड़का मर गया। देखो ! पुत्र की अपेक्षा धन कितना प्यारा है ! !

दूसरी भी एक घटना है :– एक ग्वालिन दूध बेचकर, उसके तीन रुपये लेकर अपने गाँव जा रही थी। अकाल के दिन थे। रास्ते में लुटेरे मिले। ग्वालिन को डर लगा कि ये लोग मेरे रुपये छीन लेंगे, इसलिए वह तीन कल्दार रुपये पेट में निगल गई; परन्तु लुटेरों ने वह देख लिया और ग्वालिन को मारकर उसके पेट में से रुपये निकाल लिये।

देखो, यह क्रूरता ! ऐसे जीव दौड़कर नरक में न जावें तो अन्य कहाँ जावें ? ऐसे तीव्र पाप के परिणाम जिज्ञासु को नहीं होते।

बहुत-से लोगों को तो लक्ष्मी कमाने की धुन में अच्छी तरह खाने का समय भी नहीं मिलता; देश छोड़कर अनार्य की तरह परदेश में जाते हैं, जहाँ भगवान के दर्शन भी न मिलें, सत्संग भी न मिले। अरे भाई ! जिसके लिए तूने इतना किया, उस लक्ष्मी का कुछ तो सदुपयोग कर !

पचास-साठ वर्ष संसार की मजदूरी कर-कर के मरने बैठा हो, फिर भी यदि मरते-मरते अन्त घड़ी में बच जाय और खटिया में से उठे तो भी पुनः उन्हीं पापकार्यों में संलग्न हो जाता है; परन्तु ऐसा नहीं विचारता कि अरे ! समस्त जिन्दगी धन कमाने में गवाँ दी और मुफ्त में पाप बाँधा और फिर यह धन तो कोई साथ जायेगा नहीं, इसलिए राग घटाकर अपने हाथ से ही इसका कोई सदुपयोग करूँ और जीवन में आत्मा का कुछ हित हो – ऐसा उद्यम करूँ।

देव-गुरु-धर्म का उत्साह, सत्पात्र दान, तीर्थयात्रा आदि में राग घटाकर लक्ष्मी का उपयोग करेगा तो तुझे भी अन्तरंग में ऐसा संतोष होगा कि आत्मा के हित के लिए मैंने कुछ किया है; अन्यथा मात्र पाप में ही जीवन बिताया तो तेरी लक्ष्मी भी निष्फल जायेगी और मरण समय तू पछतावेगा कि अरे ! जीवन में आत्महित के लिए कुछ नहीं किया और अशान्तरूप से देह छोड़कर कौन जाने कहाँ जाकर पैदा होगा ? इसलिए हे भाई ! छठवें से सातवें गुणस्थान में झूलते मुनिराज ने करुणा करके तेरे हित के लिए इस श्रावकधर्म का उपदेश दिया है।

तेरे पास चाहे जितना धन का समूह हो; परन्तु उसमें से तरा कितना ? तू दान में खर्च करे, उतना तेरा। राग घटाकर दानादि सत्-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कार्य में खर्च हो, उतना ही धन सफल है। बारम्बार सत्पात्र दान के प्रसंग से, मुनिवरों धर्मात्माओं आदि के प्रति बहुमान, विनय, भक्ति से तुझे धर्म के संस्कार बने रहेंगे और ये संस्कार परभव में भी साथ चलेंगे, लक्ष्मी कोई परभव में साथ नहीं चलती। इसलिए कहते हैं कि संसार के कार्यों में (विवाह,भोगोपभोग आदि में) तू लोभ करता हो तो भले कर; परन्तु धर्मकार्यों में तू लोभ मत कर, वहाँ तो उत्साहपूर्वक वर्तन करना।

जो अपने को धर्मी श्रावक कहलवाता है; परन्तु धर्मप्रसंग में उत्साह तो आता नहीं, धर्म के लिए धन आदि का लोभ भी घटा नहीं सकता तो आचार्यदेव कहते हैं कि वह वास्तव में धर्मी नहीं; परन्तु दंभी है, धर्मीपने का वह सिर्फ दंभ करता है। धर्म का जिसे वास्तव में रंग लगा हो, उसे तो धर्मप्रसंग में उत्साह आवे ही और धर्म के निमित्तों में जितना धन खर्च हो, उतना सफल है – ऐसा समझकर दान आदि में वह उत्साह से वर्तता है।

इसप्रकार दान की बात की।

धर्मात्मा की दृष्टि

धर्मात्मा को शुद्धता के साथ रहनेवाले शुभभाव से ऊँचा पुण्य बँधता है, परन्तु उसकी दृष्टि तो आत्मा की शुद्धता को साधने पर है। जो जीव सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं करे और मात्र शुभराग से ही मोक्ष होना मानकर उसमें अटका रहे, वह तो मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता, उसे तो श्रावकपना भी सच्चा नहीं होता। कोई जीव धर्म की आराधना कर रहा हो तो उसे देखकर धर्मी को उसके प्रति प्रमोद आता है, क्योंकि उसे स्वयं को आराधना का तीव्र प्रेम है।

– पूज्य श्री कानजी स्वामी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दान से लाभ

दानेनैव गृहस्थता गुणवती लोकद्वयोद्योतिका
सैव स्यान्ननु तद्विना धनवतो लोकद्वयध्वंसकृत् ।
दुर्व्यापारशतेषु सत्सु गृहिणः पापं यदुत्पद्यते
तन्नाशाय शशांकशुभ्रयशसे दानं च नान्यत्परम् ॥१४॥

सामान्यार्थ :– धनवान मनुष्यों का गृहस्थपना दान करने पर ही लाभदायक है तथा दान करने से इस लोक और परलोक दोनों का उद्योत होता है। दान रहित गृहस्थपना तो दोनों लोकों का ध्वंस करनेवाला है। गृहस्थ को सैकड़ों प्रकार के दुर्व्यापार से जो पाप होता है, उसका नाश दान से ही होता है और दान करने से चन्द्र समान उज्ज्वल यश प्राप्त होता है। इसप्रकार पाप का नाश और यश की प्राप्ति के लिए गृहस्थ को सत्पात्र दान के अलावा अन्य कोई मार्ग नहीं है; इसलिए अपना हित चाहनेवाले गृहस्थों को दान से अपना गृहस्थपना सफल करना चाहिए।

श्लोक १४ पर प्रवचन

श्रावक के नितप्रति के जो छह कर्तव्य हैं, उनमें से यहाँ दान का वर्णन चल रहा है।

देव-गुरु-शास्त्र के प्रति उल्लास के द्वारा संसार की ओर का उल्लास कम होता है, तब वहाँ दानादि के शुभभाव आते हैं; इसलिए 'गृहस्थ को पाप घटाकर शुभभाव करना चाहिये' – ऐसा उपदेश है। तू शुभभाव कर – ऐसा उपदेश व्यवहार में होता है; परमार्थ से तो राग का कर्त्तृत्व आत्मा के स्वभाव में नहीं है, राग के अंश का भी कर्त्तृत्व माने अथवा उसे मोक्षमार्ग माने तो मिथ्यादृष्टि है – ऐसा शुद्धदृष्टि के

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

होकर, राग रहित केवलज्ञान को साधकर मोक्ष प्राप्त करेगा। इसप्रकार धर्मीजीव तीनों का विवेक करके जबतक मुनिदशा न हो सके, तबतक गृहस्थ अवस्था में पाप से बचकर दानादि शुभकार्यों में प्रवर्तता है।

श्री पद्मनन्दी स्वामी ने दान का विशेष कथन दानोपदेशन नाम के अलग अधिकार में किया है। भाई! स्त्री आदि के लिए तू जो धन खर्च करता है, पुत्र-पुत्री के लग्न आदि में पागल होकर धन खर्च करता है; वह तो व्यर्थ है; व्यर्थ ही नहीं, परन्तु उलटे पाप का कारण है। उसके बदले हे भाई! जिनमन्दिर के लिए, वीतरागी शास्त्रों के लिए तथा धर्मात्मा श्रावक साधर्मी आदि सुपात्रों के लिए तेरी जो लक्ष्मी खर्च हो, वही धन्य है।

लक्ष्मी तो जड है; परन्तु उसके दान का जो भाव है, वह धन्य है – ऐसा समझना; क्योंकि सत्‌कार्य में जो लक्ष्मी खर्च हुई, उसका फल अनन्तगुना आवेगा। इसकी दृष्टि में धर्म की प्रभावना का भाव है अर्थात् आराधकभाव से पुण्य का रस अनन्तगुना बढ़ जाता है। नव प्रकार के देव कहे हैं:– पंच परमेष्ठी, जिनमन्दिर, जिनबिम्ब, जिनवाणी और जिनधर्म – इन नव प्रकार के देवों के प्रति धर्मी को भक्ति का उल्लास आता है।

जो जीव पापकार्यों मे तो उत्साह से धन खर्च करता है और धर्मकार्यों में कंजूसी करता है तो उस जीव को धर्म का सच्चा प्रेम नहीं, उसे धर्म की अपेक्षा संसार का प्रेम अधिक है। धर्म के प्रेमवाला गृहस्थ अपनी लक्ष्मी को संसार की अपेक्षा धर्मकार्यों में अधिक उत्साह से खर्च करता है।

अरे! चैतन्य को साधने के लिए जहाँ सर्वसंगपरित्यागी मुनि होने की भावना हो, वहाँ लक्ष्मी का मोह न घटे – यह कैसे बने? लक्ष्मी में, भोगों में अथवा शरीर में धर्मी को सुखबुद्धि नहीं होती। आत्मीय सुख जिसने देखा है अर्थात् विषयसुखों की तृष्णा जिसे नष्ट हो गई है; वह जिसमें सुख नहीं, उसकी भावना कैसे करे? इसप्रकार धर्मात्मा के परिणाम अत्यन्त कोमल होते हैं, तीव्र पापभाव उसे नहीं होते।

लोभियों के हेतु कौवे का उदाहरण शास्त्रकार ने दिया है। रसोई की जली हुई खुरचन मिले, वहाँ कौवा काँव-काँव करता रहता है। वहाँ अलंकार से आचार्य बतलाते हैं कि अरे! यह कौवा भी काँव-काँव करता

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हुआ अन्य कौवों को इकट्ठा करके खाता है और तू ? राग द्वारा तेरे गुण जले, तब पुण्य बँधा और उसके फल में यह लक्ष्मी मिली; इस तेरे गुण के जले हुए खुरचन को यदि तू अकेला-अकेला खावे और साधर्मी-प्रेम वगैरह में उसका उपयोग न करे तो क्या तू कौवे से भी गया-बीता हो गया ? अतः हे भाई ! पात्रदान की महिमा जानकर तू तेरी लक्ष्मी का सदुपयोग कर।

प्रद्युम्नकुमार ने पूर्वभव में औषधिदान किया था, उससे उसे कामदेव जैसा रूप तथा अनेक ऋद्धियाँ मिली थीं। लक्ष्मण की पटरानी विशल्यादेवी ने पूर्वभव में एक अजगर को करुणाभाव से अभयदान किया, उससे उसे ऐसी ऋद्धि मिली थी कि उसके स्नान के पानी से लक्ष्मण आदि की मूर्च्छा उतर गई। वज्रजंघ और श्रीमती की बात भी प्रसिद्ध है; वे आहारदान से भोगभूमि में उत्पन्न हुए और वहाँ मुनिराज के उपदेश से उन्होंने सम्यग्दर्शन पाया था; उनके आहारदान में अनुमोदन करनेवाले चारों जीव (सिंह, बन्दर, नेवला और सुअर) भी भोगभूमि में उनके साथ ही जन्मे और सम्यग्दर्शन प्राप्त किया। यद्यपि सम्यग्दर्शन कोई पूर्व के शुभराग का कुछ फल नहीं है; परन्तु सम्यग्दर्शन हुआ; इसलिए पूर्व के राग को परम्पराकारण भी कहने में आता है – ऐसी उपचार की पद्धति है। देव-गुरु-धर्म के प्रसंग में बारम्बार दान करने से तेरे धर्म के संस्कार ताजे रहा करेंगे और धर्म की रुचि का बारम्बार चिन्तन होने से तुझे आगे बढ़ने का कारण बनेगा।

धर्म के प्रेम सहित जो दानादि का भाव हुआ, वह 'पूर्व में अनन्तकाल में नहीं हुआ' – ऐसा अपूर्व है और उसके फल में जो शरीर आदि मिलेंगे, वे भी अपूर्व हैं; क्योंकि आराधकभाव सहित पुण्य जिसमें निमित्त हो – ऐसा शरीर भी पहले अज्ञानदशा में कभी नहीं मिला था। जीव के भावों में अपूर्वता होने पर संयोगों में भी अपूर्वता हो गई। सत्पात्र दान के प्रसंग से अन्तर में स्वयं की प्रीति पुष्ट होती है, उसकी मुख्यता है; उसके साथ का राग और पुण्य भी भिन्न प्रकार का होता है।

इसप्रकार दान का उत्तम फल जानना।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

धन का उपयोग कैसे करें ?

पात्राणामुपयोगियत्किल धनं तत् धीमतां मन्यते
येनानन्तगुणं परत्र सुखदं व्यावर्तते तत्पुनः ।
यद्भोगाय गतं पुनर्धनवतः तन्नष्टमेव ध्रुवं
सर्वासामिति सम्पदां गृहवतां दाने प्रधानं फलम् ॥१५॥

सामान्यार्थ :– जो धन पात्रों के उपयोग में आता है, उसी को बुद्धिमान मनुष्य श्रेष्ठ मानते हैं, क्योंकि वह अनन्तगुणा सुख को देनेवाला होकर परलोक में फिर से भी प्राप्त हो जाता है। इसके विपरीत आचरण करनेवाले धनवानों का धन भोग के निमित्त से नष्ट होता है, वह वास्तव में नष्ट ही हो जाता है अर्थात् दानजनित पुण्य के अभाव में वह फिर कभी नहीं प्राप्त होता। अतः गृहस्थों को समस्त सम्पत्तियों के लाभ का उत्कृष्ट फल दान में ही प्राप्त होता है।

श्लोक १५ पर प्रवचन

गृहस्थ का जो धन पात्रदान में खर्च हो, वही सफल है – ऐसा कहकर दान की प्रेरणा देते हैं।

देखो ! जो ऐसा समझे, उसके पापपरिणाम कितने कम हो जावें, पुण्यपरिणाम कितने बढ़ जावें और फिर भी धर्म तो इनसे भी भिन्न तीसरी ही वस्तु है। भाई ! पाप और पुण्य के बीच में विवेक करना चाहिये। संसार के भोगादि के लिए व्यवसाय करना, वह तो पापबन्ध का कारण है और धर्मप्रसंग में धर्मात्मा के बहुमान आदि के लिए व्यवसाय करना, वह पुण्य का कारण है और उसके फलस्वरूप परलोक में पुण्य सम्पदा भी मिलेगी; परन्तु धर्मात्मा तो इस सम्पदा को भी छोड़कर, मुनि

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वर्णन में आता है। ऐसी दृष्टिपूर्वक धर्मी को राग की बहुत मंदता होती है। राग रहित स्वभाव दृष्टि में ले और राग घटे नहीं — ऐसा कैसे बने ?

यहाँ कहते हैं कि जिसे दानादि शुभभाव का भी पता नहीं, मात्र पापभाव में ही पड़ा है; उसकी तो इस लोक में भी शोभा नहीं और परलोक में भी उसे उत्तम गति नहीं मिलती। पाप से बचने के लिए सत्पात्र दान ही उत्तम मार्ग है। मुनिवरों को तो परिग्रह ही नहीं, उनको तो अशुभ परिणति छूट गई है और बहुत आत्मरमणता वर्तती है, उनकी तो क्या बात ? यहाँ तो गृहस्थ के लिए उपदेश है। जिसमें अनेक प्रकार के पाप के प्रसंग हैं — ऐसे गृहस्थपने में पाप से बचने के लिए पूजा-दान-स्वाध्याय आदि कर्तव्य हैं।

तीव्र लोभी प्राणी को सम्बोधन करके श्री कार्तिकेय स्वामी तो गाथा १२ में यहाँ तक कहते हैं कि अरे जीव ! यह लक्ष्मी चंचल है, तू इसकी ममता छोड़। तू तीव्र लोभ से देव-गुरु-शास्त्र के शुभ कार्यों में तो लक्ष्मी खर्च नहीं करता, कम से कम देह के लिए तो खर्च कर — इतनी तो ममता घटा। इसप्रकार भी यदि लक्ष्मी की ममता घटाना सीखेगा तो कभी शुभ कार्यों में भी लोभ घटाने का प्रसंग आवेगा।

यहाँ तो धर्म के निमित्तों के प्रति उल्लासभाव से जो दानादि होता है, उसकी ही मुख्य बात है। जिसे धर्म का लक्ष्य नहीं है और कुछ मंद राग से दानादि करता है, उसे तो साधारण पुण्य बँधता है; परन्तु यहाँ तो धर्म के लक्ष्य सहितवाले पुण्य की मुख्यता है अर्थात् अधिकार के प्रारम्भ में ही अरहन्तदेव की पहिचान की है।

शास्त्र में तो जिससमय जो प्रकरण चलता हो, उससमय उसका ही विस्तार से वर्णन होता है, ब्रह्मचर्य के समय ब्रह्मचर्य का वर्णन होता है और दान के समय दान का वर्णन होता है; परन्तु मूलभूत सिद्धान्त को लक्ष्य में रखकर प्रत्येक कथन का भाव समझना चाहिए।

जिसके पास अधिक धन हो, उसे लोग धनवान कहते हैं। परन्तु शास्त्रकार कहते हैं कि जो लोभी है; उसके पास चाहे जितना धन पड़ा हो तो भी वह धनवान नहीं, परन्तु रंक है; क्योंकि जो धन उदारतापूर्वक सत्कार्य में खर्च करने के काम न आवे, अपने हित के काम न आवे, मात्र पापबन्ध का ही कारण हो; वह धन किस काम का ? और ऐसे धन से धनवानपना कौन माने ? सच्चा धनवान तो वह है कि जो उदारतापूर्वक अपनी लक्ष्मी को दान में खर्च करता हो। भले लक्ष्मी थोड़ी हो; परन्तु

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जिसका हृदय उदार है, वह धनवान है और लक्ष्मी का ढ़ेर होते हुए भी जिसका हृदय ओछा है – कंजूस है, वह दरिद्री है। एक कहावत है कि :–

रण चढ़ा रजपूत छुपे नहीं।
दाता छुपे नहीं घर माँगन आये ।।

जिसप्रकार युद्ध में तलवार चलाने का प्रसंग आवे तो वहाँ राजपूत की शूरवीरता छिपी नहीं रहती, वह घर के कोने में चुपचाप नहीं बैठता, उसका शौर्य उछल जाता है; उसीप्रकार जहाँ दान का प्रसंग आता है, वहाँ उदार हृदय के मनुष्य का हृदय छिपा नहीं रहता। धर्म के प्रसंग में प्रभावना आदि के लिए दान करने का प्रसंग आवे, वहाँ धर्म के प्रेमी जीव का हृदय झनझनाहट करता उदारता से उछल जाता है। वह बचत का बहाना नहीं ढूँढ़ता अथवा उसे बार-बार कहना नहीं पड़ता; परन्तु वह अपने उत्साह से ही दान आदि करता है कि अहो ! ऐसे उत्तम कार्य के लिए जितना दान करूँ, उतना कम है। मेरी जो लक्ष्मी ऐसे कार्य में खर्च हो, वह सफल है। इसप्रकार श्रावक दान द्वारा अपने गृहस्थपने को शोभित करता है। शास्त्रकार अब इस बात का विशेष उपदेश देते हैं।

०००००

ज्ञानभावना

संसार में जब हजारों प्रकार की प्रतिकूलता एक साथ आ पड़े, कहीं मार्ग न सूझे; उससमय उपाय क्या ? उपाय एक ही कि धैर्यपूर्वक ज्ञानभावना भाना।

ज्ञानभावना क्षणमात्र में सब प्रकार की उदासी को नष्ट कर हितमार्ग सुझाती है, शान्ति देती है, कोई अलौकिक धैर्य और अचिंत्य शक्ति देती है।

गृहस्थ श्रावक को भी 'ज्ञानभावना' होती है।

– पूज्य श्री कानजी स्वामी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

दान: मोक्ष का प्रथम कारण

पुत्रे राज्यमशेषमर्थिषु धनं दत्त्वाऽभयं प्राणिषु
प्राप्ता नित्यसुखास्पदं सुतपसा मोक्षं पुरा पार्थिवाः ।
मोक्षस्यापि भवेत्ततः प्रथमतो दानं निदानं बुधैः
शक्त्या देयमिदं सदातिचपले द्रव्ये तथा जीविते ॥१६॥

सामान्यार्थ :– यह जीवन और धन दोनों अत्यंत क्षणभंगुर हैं – ऐसा जानकर चतुर पुरुष को सदा शक्ति-अनुसार दान करना चाहिये; क्योंकि मोक्ष का प्रथम कारण दान है। पूर्व में अनेक राजाओं ने याचक-जनों को धन देकर, सब प्राणियों को अभय देकर और पुत्र को समस्त राज्य देकर, सम्यक् तप द्वारा नित्य सुखास्पद मोक्ष पाया।

श्लोक १६ पर प्रवचन

देखिये ! यहाँ ऐसा बतलाते हैं कि दान के फल में धर्मीजीव को राज्य-सम्पदा वगैरह मिले, उसमें वह सुख मानकर मूर्च्छित नहीं होता; परन्तु दानादि द्वारा उसका त्याग करके मुनि होकर मोक्ष को साधने चला जाता है।

जिसप्रकार चतुर किसान बीज की रक्षा करके बाकी का अनाज भोगता है और बीज बोता है, उसके हजारोंगुने दाने पकते हैं; उसीप्रकार धर्मीजीव पुण्यफलरूप लक्ष्मी वगैरह वैभव का उपभोग धर्म की रक्षापूर्वक करता है और दानादि सत्कार्यों में लगाता है, जिससे उसका फल बढ़ता जाता है और भविष्य में तीर्थंकरदेव का समवसरण तथा गणधरादि संत धर्मात्माओं का योग वगैरह धर्म के उत्तम-निमित्त मिलते हैं। वहाँ आत्मस्वरूप को साधकर, बाह्यपरिग्रह छोड़कर, मुनि होकर, केवलज्ञानरूप अनन्त आत्मवैभव को प्राप्त करता है।

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पुण्य के निषेध की भूमिका में (अर्थात् वीतरागभाव को साधते-साधते) ज्ञानी को अनन्तगुना पुण्य बँधता है। पुण्य की रुचिवाले अज्ञानी को जो पुण्य बँधे; उससे पुण्य का निषेध करनेवाले ज्ञानी की भूमिका में जो पुण्य बँधे, वह अलौकिक होता है। जिससे तीर्थंकरपद मिले, चक्रवर्तीपद मिले, बलदेवपद मिले – ऐसा पुण्य आराधक जीव को ही होता है; राग की रुचिवाले विराधक को ऐसा पुण्य नहीं बँधता तथा जब उस पुण्य का फल आये, तब भी ज्ञानी उन संयोगों को अध्रुव – क्षणभंगुर बिजली जैसे चपल जानकर उनका त्याग करता है और ध्रुव ऐसे सुखधाम आत्मा को साधने हेतु सर्वसंगत्यागी मुनि होता है और मोक्ष को साधता है।

पहले से ही दान की भावना द्वारा राग घटाया था, उससे आगे बढ़ते-बढ़ते सर्वसंग छोड़कर मुनि होता है। पहले से ही – गृहस्थपने में ही दानादि द्वारा थोड़ा भी राग घटाते जिससे नहीं बनता, राग रहित स्वभाव क्या है, इसे लक्ष्य में भी जो नहीं लेता; वह सर्व राग को छोड़कर मुनिपना कहाँ से लेगा ? – इस अपेक्षा से मोक्ष का प्रथम कारण दान कहा गया है।

ज्ञानी जानता है कि एक तो लक्ष्मी इत्यादि बाह्यसंयोग में मेरा सुख जरा भी नहीं है, फिर वे संयोग क्षणभंगुर भी हैं और उनका आना-जाना तो पूर्व के पुण्य-पाप के आधीन है। पुण्य हो तो दान में खर्च करने पर भी लक्ष्मी समाप्त नहीं होती और पुण्य समाप्त हो तो लाख उपाय द्वारा भी वह नहीं रहती – ऐसा जानते हुए वह महापुरुष धन वगैरह छोड़कर मुनि होता है तथा सर्व परिग्रह छोड़कर मुनिपना न ले सके, तबतक उसका उपयोग दानादि में करता है। इसप्रकार त्याग अथवा दान – ये दो ही लक्ष्मी के उपयोग के उत्तम मार्ग हैं।

अज्ञानी तो परिग्रह में सुख मानने से उसकी ममता करके उसे साथ में ही रखना चाहता है। 'जितना बढ़े परिग्रह, उतना बढ़े सुख' – ऐसी अज्ञानी की भ्रमणा है। ज्ञानी जानता है कि जितना परिग्रह छूटे, उतना सुख है। मात्र बाह्यत्याग की बात नहीं; अन्दर का मोह छूटे, तब परिग्रह छूटा कहने में आता है।

अहा ! चैतन्य का आनन्दनिधान जिसने देखा, उसे राग के फलरूप बाह्य वैभव तो तृणतुल्य लगता है। किसी स्तुति में स्वामी पद्मनंदी कहते है कि अहो नाथ ! दिव्यध्वनि द्वारा आपने आत्मा के अचिन्त्य निधान को स्पष्टरूप से बताया, तो अब इस जगत में ऐसा कौन

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है कि इस निधान के खातिर राजपाट के निधान को तृण समान समझकर न त्यागे और चैतन्यनिधान को न साधे ?

देखो तो ! बाहुबली जैसे बलवान योद्धा राजसम्पदा छोड़कर इसप्रकार चले गये कि पीछे फिरकर भी नहीं देखा कि राज्य का क्या हाल है ? चैतन्य की साधना में अडिगरूप से ऐसे लीन हुये कि खड़े-खड़े ही केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। शांतिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ जैसे तीर्थंकर, चक्रवर्ती भरत चक्रवर्ती, एवं पाण्डव आदि महापुरुष भी क्षणमात्र में राज्यवैभव छोड़कर मुनि हुए; उन्हें जीवन में प्रारम्भ से ही भिन्नता की भावना का घोलन था। वे राग और राज्य से पहले ही से अलिप्त थे; इसलिए क्षणभर में ही जिसप्रकार सर्प काँचली उतारता है, उसीप्रकार वे राज्य और राग दोनों को छोड़कर मुनि हुए और स्वरूप की साधना की। अज्ञानी को तो साधारण परिग्रह की ममता छोड़नी भी कठिन पड़ती है, चक्रवर्ती की सम्पदा की तो क्या बात ? परन्तु उन्होंने चैतन्यसुख के सामने उसे भी तुच्छ समझकर एक क्षण में छोड़ दी।

इसलिए कवि कहते हैं कि :—

छयानवे हजार नार छिनक में दीनी छार,
अरे मन ! ता निहार काहे तू डरत है ?
छहों खण्ड की विभूति छाँड़त न बेर कीन्हीं,
चमू चतुरंगन सों नेह न धरत हैं।।
नौ निधान आदि जे चौदह रतन त्याग,
देह सेती नेह तोड़ वन विचरत हैं।
ऐसी विभौ त्यागत विलम्ब जिन कीन्हों नाहीं,
तेरे कहो केती निधि ? सोच क्यों करत है ?

अरे ! लक्ष्मी और जीवन अत्यन्त ही अस्थिर है, उनका क्या भरोसा ? लक्ष्मी का दूसरा नाम 'चपला' कहा है; क्योंकि वह इन्द्रधनुष जैसी चपल है, क्षणभंगुर है। लक्ष्मी कब चली जावेगी और जीवन कब समाप्त हो जावेगा – इसका कोई भरोसा नहीं। कल का करोड़पति अथवा राजा महाराजा आज भिखारी बन जाता है। आज का निरोगी दूसरे क्षण मर जाता है। सुबह जिसका राज्याभिषेक हुआ, संध्या समय उसकी ही चिता देखने में आ जाती है।

भाई ! ये तो सब अध्रुव हैं, इसलिए ध्रुव चैतन्यस्वभाव को दृष्टि में लेकर इस लक्ष्मी आदि का मोह छोड़। धर्मी श्रावक अथवा जिज्ञासु-गृहस्थ अपनी वस्तु से शक्तिअनुसार याचकों को इच्छितदान देवें।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दान योग्य वस्तु का होता है, अयोग्य वस्तु का दान नहीं होता। लौकिक कथाओं में आता है कि किसी राजा ने अपने शरीर का माँस काटकर दान में दिया अथवा अमुक भक्त ने अपने एक पुत्र का मस्तक दान में दिया; परन्तु यह वस्तुधर्म से विरुद्ध है, यह दान नहीं कहलाता, यह तो कुदान है। दान देनेवालों को भी योग्य-अयोग्य का विवेक होना चाहिये।

आदरणीय धर्मात्मा आदि को आदरपूर्वक दान देवें और अन्य दीन-दुःखी जीवों को करुणाबुद्धि से दान देवें। धर्मी का ऐसी भावना होती है कि मेरे निमित्त से जगत में किसी प्राणी को दुःख न हो। यही सर्व प्राणियों के प्रति अहिंसाभावरूप अभयदान है और शास्त्रदान आदि का वर्णन भी पूर्व में हो गया है – ऐसे दान को मोक्ष का प्रथम कारण कहा गया है।

प्रश्न :– मोक्ष का मूल तो सम्यग्दर्शन है, तो यहाँ दान को मोक्ष का प्रथम कारण कैसे कहा ?

उत्तर :– पहले प्रारम्भ में सर्वज्ञ की पहिचान की बात की थी, उस सहित दान की यहाँ बात है। उसीप्रकार श्रावक को प्रथम भूमिका में धर्म का उल्लास और भाव अवश्य होता है, उसे बताने के लिए व्यवहार से उसे मोक्ष का प्रथम कारण कहा है। इतना राग घटना भी जिसे नहीं रुके, वह मोक्षमार्ग में कैसे आवेगा ? वीतरागदृष्टिपूर्वक जितना राग घटा, उतना मोक्षमार्ग है। पहले दानादि द्वारा राग घटाना सीखेगा तो बढ़कर मुनिपना लेगा और मोक्षमार्ग को साधेगा। इस अपेक्षा से दान को मोक्ष का प्रथम कारण कहा है – ऐसा समझना।

ooooo

देव-गुरु-धर्म के प्रसंग में बारम्बार दान करने से धर्म का संस्कार ताजा रहा करता है और धर्म की रुचि का बारम्बार घोलन होने से आगे बढ़ने का कारण होता है····जो जीव पापकार्य में तो उत्साह से धन खर्च करता है और धर्म कार्यों में कंजूसी करता है उसे धर्म का सच्चा प्रेम नहीं, धर्म के प्रेमवाला गृहस्थ संसार की अपेक्षा विशेष उत्साह से धर्म कार्यों में वर्तता है।

– पूज्य श्री कानजी स्वामी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

मनुष्यभव प्राप्त करके क्या करना ?

ये मोक्षं प्रति नोद्यताः सुनृभवे लब्धेऽपि दुर्बुद्धयः
ते तिष्ठंति गृहे न दानमिह चेत् तन्मोहपाशो दृढ़ः ।
मत्वेदं गृहिणा यथर्द्धि विविधं दानं सदा दीयतां
तत्संसारसरित्पति प्रतरणे पोतायते निश्चितं ॥१७॥

सामान्यार्थ : – उत्तम मनुष्यभव प्राप्त करके भी जो कुबुद्धि-जीव मोक्ष का उद्यम नहीं करता और गृहस्थपने में रहकर दान भी नहीं देता, उसका गृहस्थपना तो दृढ़-मोहपाश के समान है – ऐसा समझकर गृहस्थ के लिए अपनी शक्ति-अनुसार विविध प्रकार से दान देना सदा कर्तव्य है; क्योंकि गृहस्थ को तो दान संसारसमुद्र से तिरने के लिए निश्चित जहाज के समान है ।

श्लोक १७ पर प्रवचन

श्रावकधर्म का वर्णन सर्वज्ञ की पहिचान से शुरू किया था । उसमें यह दान का प्रकरण चल रहा है। इसमें कहते हैं कि ऐसा दुर्लभ मनुष्यपना प्राप्त करके जो मोक्ष का उद्यम नहीं करता अर्थात् मुनिपना भी ग्रहण नहीं करता और दानादि श्रावकधर्म का भी पालन नहीं करता, वह तो मोहबन्धन में बँधा हुआ है ।

प्रथम तो ऐसे मनुष्यपने को पाकर मुनि होकर मोक्ष का साक्षात् उद्यम करना चाहिये । उतनी शक्ति न हो तो गृहस्थपने में रहकर दान तो जरूर करना चाहिये । इतना भी जो नहीं करते और मात्र संसार के पाप में ही लगे रहते हैं, वे तो तीव्र मोह के कारण संसार की दुर्गति में कष्ट उठाते हैं । इससे बचने के लिये दान उत्तम जहाज के समान है ।

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

दान में देव-गुरु-शास्त्र के प्रसंग की मुख्यता है, जिससे उसमें धर्म का संस्कार बना रहे और राग घटता जावे तथा आगे जाकर मुनिपना होकर वह मोक्षमार्ग को साध सके। श्रावक के अन्तःकरण में मुनिदशा की प्रीति है, इसलिये हमेशा त्याग की ओर लक्ष रहा करता है; मुनिराज को देखते ही भक्ति से उसके रोम-रोम पुलकित हो जाते हैं।

मुनिभावना की बातें करे और अभी राग थोड़ा भी घटाने का ठिकाना न हो, लोभादि असीम हो – ऐसे जीव को धर्म का सच्चा प्रेम नहीं। धर्मीजीव मुनि अथवा अर्जिका न हो सके तो भले ही गृहवास में रहता हो; परन्तु गृहवास में रहते हुए भी उसको आत्मा में कितनी उदासीनता है!

अरे! यह मनुष्य अवतार मिला; जैनधर्म का और सत्सग का एसा उत्तम योग मिला तो आत्मा को साधकर मोक्षमार्ग द्वारा उसको सफल कर। संसार-मोह में जीवन बिताता है, उसके बदले आन्तरिक प्रयत्न द्वारा आत्मा में से माल बाहर निकाल – आत्मा का वैभव प्रगट कर। चैतन्यनिधान के सामने जगत के अन्य सभी निधान तुच्छ हैं।

अहा! संतों ने इस चैतन्यनिधान को स्पष्टरूप से दिखा दिया; उस जानकर परिग्रह छोड़कर इस चैतन्यखजाने को न ले – ऐसा मूर्ख कौन है? चैतन्यनिधान को देखने के पश्चात् बाहर के मोह में लगा रहे – ऐसा मूर्ख कौन है? करोड़ों रुपया देने पर भी जिस आयुष्य का एक समय भी बढ़ नहीं सकता – ऐसे इस कीमती मनुष्य जीवन को जो व्यर्थ गमाते हैं और जन्म-मरण के अंत का उपाय नहीं करते, वे दुर्बुद्धि हैं।

भाई! यह आत्मा को साधने का अवसर है। तेरे खजाने में से जितना वैभव निकाले, उतना निकले – ऐसी बात है। अरे, इस अवसर को कौन खोवे? आनन्द का भंडार खुले तो आनन्द को कौन न लेवे? बड़े-बड़े चक्रवर्तियों ने और अल्पायु राजकुमारों ने इस चैतन्यखजाने को लेने हेतु बाहर के खजाने को छोड़-छोड़कर वन में गमन किया; अन्तर में ध्यान करके सर्वज्ञपद के अचिन्त्य खजाने को खोला और अपना जीवन सफल किया।

इसप्रकार धर्मात्मा आत्मा का आनन्द कैसे बढ़े, उसी में उद्यमी है। जो दुर्बुद्धि जीव ऐसा उद्यम नहीं करता, तृष्णा की तीव्रता से परिग्रह को ही इकट्ठा किया करता है, उसका तो जीवन व्यर्थ है। दान के बिना

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

गृहस्थ तो मोह के जाल में फँसे हुए के समान हैं। जिसप्रकार रसना इन्द्रिय की तीव्र लोलुपी मछली जाल में फँस जाती है और दु:खी होती है, उसीप्रकार तीव्र लोलुपी गृहस्थ मिथ्यात्व – मोह के जाल में फँसा रहता है और संसारभ्रमण में दु:खी होता है। ऐसे संसारभ्रमण से बचने हेतु दान नौका समान है, अतः गृहस्थों को अपनी ऋद्धि के प्रमाण में दान करना चाहिये।

'ऋद्धि के प्रमाण में' का अर्थ क्या ?

लाखों-करोड़ों की सम्पत्ति में से पाँच-दस रुपया खर्चे, वह ऋद्धि के प्रमाण में नहीं कहा जा सकता अथवा अन्य कोई करोड़पति ने पाँच हजार खर्च किये और मैं तो उससे कम सम्पत्तिवाला हूँ, अतः मुझे तो उससे कम खर्च करना चाहिये – ऐसी तुलना न करे। मुझे तो मेरा राग घटाने हेतु दान करना है न ? उसमें दूसरे का क्या काम है ?

प्रश्न :– हमारे पास थोड़ी सम्पत्ति है तो दान कहाँ से करें ?

उत्तर :– भाई ! विशेष सम्पत्ति हो तो ही दान हो – ऐसी कोई बात नहीं और तू तेरे संसारकार्यों में खर्च करता है या नहीं ? तो धर्मकार्य में भी उल्लासपूर्वक थोड़ी सम्पत्ति में से तेरी शक्तिप्रमाण खर्च कर। दान के बिना गृहस्थपना निष्फल है। अरे ! मोक्ष का उद्यम करने का यह अवसर है। उसमें सभी राग न छूटे तो थोड़ा राग तो घटा। मोक्ष के लिये तो सभी राग छोड़ना पड़ेगा। यदि दानादि द्वारा थोड़ा राग भी घटाते तुझसे नहीं बनता तो तू मोक्ष का उद्यम किसप्रकार करेगा ?

अहा ! इस मनुष्यपने में आत्मा में राग रहित ज्ञानदशा प्रगट करने का प्रयत्न जो नहीं करता और प्रमाद से विषयकषायों में ही जीवन बिताता है, वह मूढ़बुद्धि मनुष्यपना खो देता है; उसे पश्चात्ताप होता है कि अरे रे ! मनुष्यपने में हमने कुछ नहीं किया।

जिसे धर्म का प्रेम नहीं, जिस घर में धर्मात्मा के प्रति भक्ति के उल्लास से तन-मन-धन नहीं लगाया जाता; वह वास्तव में घर ही नहीं है, परन्तु मोह का पिंजरा है, संसार का जेलखाना है। धर्म की प्रभावना और दान द्वारा ही गृहस्थपने की सफलता है। मुनिपने में स्थित तीर्थंकर को अथवा अन्य महामुनियों को आहारदान देने पर रत्नवृष्टि होती है – ऐसी पात्रदान की महिमा है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

एकबार आहारदान के प्रसंग में एक धर्मात्मा के यहाँ रत्नवृष्टि हुई; उसे देखकर किसी को ऐसा विचार आया कि मैं भी दान दूँ, जिससे मेरे यहाँ भी रत्न बरसें। ऐसी भावना सहित उसने आहारदान दिया। वह आहार देता जावे और आकाश की ओर देखता जावे कि अब मेरे आँगन में रत्न बरसेंगे; परन्तु कुछ नहीं बरसा। देखिये ! इसे दान नहीं कहते, इसमें मूढ़ जीव के लोभ का पोषण है। धर्मीजीव को दान देने में गुणों के प्रति प्रमोद है और राग घटाने की भावना है। पहले मूर्खतावश कुदेव-कुगुरु पर जितना प्रेम था, उसकी अपेक्षा अधिक प्रेम यदि देव-गुरु के प्रति न आवे तो उसने सच्चे देव-गुरु को वास्तव में पहिचाना ही नहीं, माना ही नहीं, वह देव-गुरु का भक्त नहीं, उसे तो सत्तास्वरूप में कुलटा स्त्री समान कहा है।

देखिये, इस जैनधर्म का चरणानुयोग भी कितना अलौकिक है ! जैन श्रावक का आचरण किसप्रकार होवे, उसकी यह बात है। राग को मन्दता के आचरण बिना जैन श्रावकपना नहीं बनता। राग के एक अंश का कर्तृत्व भी जिसकी दृष्टि में रहा नहीं – ऐसे जीव के आचरण में भी राग कितना मंद पड़ जाता है ! पहले जैसे ही राग-द्वेष किया करे तो समझना कि उसकी दृष्टि में कोई अपूर्वता नहीं आई, उसकी रुचि में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। रुचि और दृष्टि बदलते ही सारी परिणति में अपूर्वता आ जाती है, परिणाम की उथल-पुथल बंद हो जाती है।

इसप्रकार द्रव्यानुयोग के अध्यात्म का और चरणानुयोग के परिणाम का मेल होता है। दृष्टि सुधरे और परिणाम चाहे जैसे हुआ करें – ऐसा नहीं बनता। देव-गुरु के प्रति भक्ति, दान वगैरह परिणाम की मन्दता का जिसका ठिकाना नहीं है, उसे तो दृष्टि सुधारने का प्रसंग नहीं है। जिज्ञासु की भूमिका में भी संसार की तरफ के परिणामों की अत्यंत ही मन्दता हो जाती है और धर्म का उत्साह बढ़ जाता है।

दानादि शुभपरिणाम मोक्ष के कारण हैं – ऐसा चरणानुयोग में उपचार से कहा जाता है; परन्तु उसमें स्वसन्मुखता द्वारा जितने अंश में राग का अभाव होता है, उतने अंश को मोक्ष का कारण जानकर उपचार से दान को मोक्ष का कारण कहा। इसप्रकार परम्परा से वह मोक्ष का कारण होगा, परन्तु किसे ? जो शुभराग में धर्म मानकर नहीं अटके, उसे। जो शुभराग को ही वास्तव में मोक्ष-कारण मानकर अटक जावेगा, उसके लिए तो वह उपचार से भी मोक्षमार्ग नहीं। वीतरागी शास्त्रों का

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कोई भी उपदेश राग घटाने हेतु ही होता है, राग के पोषण हेतु नहीं होता।

अहो! जिसे अपनी आत्मा का संसार से उद्धार करना है, उसे संसार से उद्धार करने का मार्ग बतानेवाले देव-गुरु-धर्म के प्रति परम उल्लास आता है। जो भव से पार हो गये, उनके प्रति उल्लास से राग घटाकर स्वयं भी भव से पार होने के मार्ग में आगे बढ़ता है। जो जीव संसार से पार होने का इच्छुक होता है; उसे कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र के प्रति प्रेम आता ही नहीं, क्योंकि उनके प्रति प्रेम तो संसार का ही कारण है।

प्रश्न :– सच्चे देव-गुरु के प्रति प्रेम करना भी तो राग ही है न ?

उत्तर :– यह सत्य है; परन्तु सच्चे देव-गुरु की पहिचान सहित उनकी तरफ का राग सवेरे की लालिमा जैसा है, उसके बाद थोड़े समय में ही वीतरागता से जगमगाता हुआ सूर्य उदय होगा और कुदेव आदि का राग तो सन्ध्या की लालिमा जैसा है, उसके पश्चात् अन्धकार है अर्थात् संसारभ्रमण है।

जहाँ धर्म के प्रसंग में आपत्ति पड़े, वहाँ तन-मन-धन अर्पण करने से धर्मी चूकता नहीं। उसे कहना नहीं पड़ता कि भाई! तुम ऐसा करो; परन्तु संघ पर, धर्म पर अथवा साधर्मी पर जहाँ आपत्ति-प्रसंग आवे और आवश्यकता पड़े, वहाँ धर्मात्मा अपनी सारी शक्ति के साथ तैयार ही रहता है।

जिसप्रकार रण-संग्राम में राजपूत का शौर्य छिपता नहीं, उसीप्रकार धर्मप्रसंग में धर्मात्मा का उत्साह छिपा नहीं रहता। धर्मात्मा का धर्मप्रेम ऐसा है कि धर्मप्रसंग में उसका उत्साह छिपा नहीं रह सकता, धर्म की रक्षा के खातिर अथवा प्रभावना के खातिर सर्वस्व स्वाहा करने का प्रसंग आवे तो भी पीछे मुड़कर नहीं देखता। ऐसे धर्मोत्साहपूर्वक दानादि का भाव श्रावक को भवसमुद्र से पार होने हेतु जहाज समान है; अतः गृहस्थों को प्रतिदिन दान देना चाहिये।

इसप्रकार दान का उपदेश दिया गया, अब आगे जिनेन्द्र भगवान के दर्शन का विशेष उपदेश दिया जाता है।

०००००

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

जिनेन्द्रदर्शन का भावपूर्ण उपदेश

यैर्नित्यं न विलोक्यते जिनपतिः न स्मर्यते नार्च्यते
न स्तूयेत न दीयते मुनिजने दानं च भक्त्या परम् ।
सामर्थ्ये सति तद्गृहाश्रमपदं पाषाणनावा समं
तत्रस्था भवसागरेऽतिविषमे मज्जन्ति नश्यन्ति च ।।१८।।

सामान्यार्थ :– जो गृहस्थ प्रतिदिन परमभक्ति से जिननाथ के दर्शन नहीं करता, स्मरण नहीं करता, अर्चन नहीं करता तथा सामर्थ्य होते हुए भी परमभक्ति से मुनिराजों को दान नहीं देता; उसका गृहस्थाश्रमपद पत्थर की नाव के समान है। पत्थर की नौका के समान गृहस्थ पद में स्थित हुआ वह जीव अत्यन्त भयंकर भवसागर में डूबता है और नष्ट होता है।

श्लोक १८ पर प्रवचन

भगवान सर्वज्ञदेव की श्रद्धापूर्वक धर्मी श्रावक को प्रतिदिन जिनेन्द्रदेव के दर्शन, स्वाध्याय, दान आदि कार्य होते हैं। उनका वर्णन चल रहा है। उसमें सातवीं गाथा से प्रारम्भ करके सत्रहवीं गाथा तक अनेक प्रकार से दान का उपदेश किया। जो जीव जिनेन्द्रदेव के दर्शन-पूजन नहीं करता तथा मुनिवरों को भक्तिपूर्वक दान नहीं देता, उसका गृहस्थपना पत्थर की नौका के समान भवसमुद्र में डुबोनेवाला है – ऐसा अब कहते हैं।

जिनेन्द्रदेव – सर्वज्ञ परमात्मा का दर्शन-पूजन यह – श्रावक का हमेशा का कर्तव्य है। प्रतिदिन के छह कर्तव्यों में भी सबसे पहला कर्तव्य जिनदेव का दर्शन-पूजन है। प्रातःकाल भगवान के दर्शन द्वारा निज के ध्येयरूप इष्टपद को स्मरण करके पश्चात् ही श्रावक दूसरी प्रवृत्ति करे। इसीप्रकार स्वयं भोजन के पूर्व मुनिवरों को याद करके

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

'अहा ! कोई सन्त-मुनिराज अथवा धर्मात्मा मेरे आँगन में पधारें तो भक्तिपूर्वक उन्हें भोजन देकर पश्चात् में भोजन करूँ' इसप्रकार श्रावक के हृदय में देव-गुरु की भक्ति का प्रवाह बहना चाहिये।

जिस घर में सच्चे देवगुरु की भक्ति नहीं, वह घर तो पत्थर की नौका के समान डूबनेवाला है।

इसी ग्रन्थ के छठवें अधिकार उपासक संस्कार[1] में भी कहा है कि दान बिना गृहस्थाश्रम पत्थर की नौका के समान है।

भाई ! प्रातःकाल उठते ही तुझे वीतराग भगवान की याद नहीं आती, धर्मात्मा-संत-मुनि याद नहीं आते और संसार के अखबार, व्यापार-धंधा अथवा स्त्री आदि की याद आती है तो तू ही विचार कि तेरी परिणति किस तरफ जा रही है ? संसार की तरफ या धर्म की तरफ ? आत्मप्रेमी हो, उसका तो जीवन ही मानो देव-गुरुमय हो जाता है। किसी गुजराती कवि ने कहा भी है :–

हरतां फरतां प्रगट हरि देखुं रे....
मारुं जीव्युं सफल तब लेखुं रे....

अर्थात् मैं तो चलते-फिरते हरि (निश्चय से भगवान आत्मा तथा व्यवहार से सच्चे देव-गुरु) को ही देखता हूँ और इसी से अपने जीवन को सफल मानता हूँ।

पंडित बनारसीदासजी कहते हैं कि 'जिनप्रतिमा जिनसारखी'[2] अर्थात् जिनप्रतिमा में जिनवरदेव की स्थापना है। उससे जो जिनवरदेव का स्वरूप पहिचान लेता है अर्थात् जिनप्रतिमा को जिनसमान ही देखता है, उस जीव की भवस्थिति अति अल्प होती है, वह अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त करता है।

'षट्खण्डागम' (भाग ६, पृष्ठ ४२७) में भी जिनेन्द्रदर्शन को सम्यक्त्व की उत्पत्ति का निमित्त कहा है तथा उससे निद्धत और निकाचितरूप मिथ्यात्व आदि कर्मसमूह भी नष्ट हो जाते हैं – ऐसा कहा है। जिसे रुचि में वीतरागी सर्वज्ञस्वभाव प्रिय लगा है और संसार की रुचि छूट गई है, उसके निमित्त में भी ऐसे वीतराग निमित्त के प्रति भक्तिभाव उछलता है।

---

1. पद्मनंदि-पंचविंशतिका : उपासक संस्कार, श्लोक ३५
2. समयसार नाटक : चतुर्दस गुणस्थानाधिकार, छन्द १

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जो परमभक्ति से जिनेद्र भगवान का दर्शन नहीं करता तो इसका अर्थ यह हुआ कि उसे वीतरागभाव नहीं रुचता और तिरने का निमित्त नहीं रुचता, परन्तु संसार में डूबने का निमित्त रुचता है। जैसी रुचि होती है, वैसे संबधों की तरफ रुचि जाये बिना नहीं रहती; इसलिये कहते हैं कि वीतरागी जिनदेव को देखते ही जिसे अन्तर में भक्ति नहीं उल्लसती, पूजास्तुति का भाव उत्पन्न नहीं होता; वह गृहस्थ समुद्र के बीच पत्थर की नाव में बैठा है।

नियमसार की टीका करते हुए मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं :–

"भवभयभेदिनि भगवति भवतः किं भक्तिरत्र न समस्ति ?
तर्हि भवाम्बुधिमध्यग्राहमुखान्तर्गतो भवसि ॥१२॥

भव के भय का भेदन करनेवाले इन भगवान के प्रति क्या तुझे भक्ति नहीं है ? तो तू भवसमुद्र में रहनेवाले मगर के मुख में है।"

अरे ! बड़े-बड़े मुनि भी जिनेन्द्रदेव के दर्शन और स्तुति करते हैं और तुझे ऐसा भाव नहीं आता और एकमात्र पाप में ही रचा-पचा रहता है तो तू भवसमुद्र में डूब जावेगा। भाई ! यदि तुझे इस भवदुःख के समुद्र में डूबना न हो और उससे तिरना हो तो संसार के तरफ की रुचि बदल कर वीतरागी देव-गुरु की तरफ तेरे परिणाम को लगा; वे धर्म का स्वरूप क्या कहते हैं, उसे समझ और उनके कहे हुए आत्मस्वरूप को रुचि में ले; तो भवसमुद्र से तेरा छुटकारा होगा।

भगवान की मूर्ति में 'ये भगवान हैं' – ऐसा स्थापनानिक्षेप वास्तव में सम्यग्दृष्टि को ही होता है; क्योंकि सम्यग्दर्शनपूर्वक प्रमाणज्ञान होता है, प्रमाणपूर्वक सम्यक् नय होता है और नय के द्वारा सच्चा निक्षेप होता है। निक्षेप नय बिना नहीं, नय प्रमाण बिना नहीं और प्रमाण शुद्धात्मा की दृष्टि बिना नहीं।

अहो, देखो तो सही यह वस्तुस्वरूप ! जैनदर्शन की एक ही धारा चली जा रही है। भगवान की प्रतिमा देखते ही 'अहो, ऐसे भगवान् !' – ऐसा एक बार भी यदि सर्वज्ञदेव का यथार्थ स्वरूप लक्षगत कर लिया तो कहते हैं कि तेरा बेड़ा भव से पार है।

यहाँ एकमात्र दर्शन करने की बात नहीं की, परन्तु प्रथम तो परमभक्ति से दर्शन करने को कहा है और फिर उसीप्रकार अर्चन (पूजन) और स्तुति करने को भी कहा है। सच्ची पहिचानपूर्वक ही

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

परमभक्ति उत्पन्न होती है और सर्वज्ञदेव की सच्ची पहिचान हो, वहाँ तो आत्मा का स्वभाव लक्षगत हो जाता है अर्थात् उसे दीर्घसंसार नहीं रहता। इसप्रकार भगवान के दर्शन की बात में भी गहरा रहस्य है। मात्र ऊपर से मान ले कि स्थानकवासी लोग मूर्ति को नहीं मानते और हम दिगम्बर जैन अर्थात् मूर्ति को माननेवाले हैं – ऐसे रूढ़िगत भाव से दर्शन करे, उसमें सच्चा लाभ नहीं होता; सर्वज्ञदेव की पहचान सहित दर्शन करे तो ही सच्चा लाभ होता है।[1]

अरे भाई! तुझे आत्मा के तो दर्शन करना नहीं आता और आत्मा के स्वरूप को देखने हेतु दर्पण समान ऐसे जिनेन्द्रदेव के दर्शन भी तू नहीं करता तो तू कहाँ जावेगा? भाई! जिनेन्द्र भगवान के दर्शन-पूजन भी न करे और तू अपने को जैन कहलावे – ये तेरा जैनपना कैसा? जिस घर में प्रतिदिन भक्तिपूर्वक देव-गुरु के दर्शन-पूजन होते हैं, मुनिवरों आदि धर्मात्माओं को आदरपूर्वक दान दिया जाता है; वह घर धन्य है, इसके बिना तो घर श्मशानतुल्य है। अरे! वीतरागी सन्त अधिक क्या कहें? ऐसे धर्म रहित गृहस्थाश्रम को तो हे भाई! समुद्र के गहरे-पानी में तिलांजलि दे देना, नहीं तो यह तुझे डुबो देगा।

धर्मीजीव प्रतिदिन जिनेन्द्रभगवान के दर्शनादि करते हैं। जिसप्रकार संसार का रागी जीव स्त्री-पुत्रादि के मुँह को अथवा चित्र को प्रेम से देखता है, उसीप्रकार धर्म का रागी जीव वीतराग-प्रतिमा का दर्शन भक्तिसहित करता है। राग की इतनी दशा बदलते भी जिससे नहीं बनती, वह वीतरागमार्ग को किसप्रकार साधेगा?

जिसप्रकार प्रिय पुत्र-पुत्री को न देखे तो माता को चैन नहीं पड़ती अथवा माता को न देखे तो बालक को चैन नहीं पड़ती, उसीप्रकार भगवान के दर्शन बिना धर्मात्मा को चैन नहीं पड़ती। "अरे रे, आज मुझे परमात्मा के दर्शन न हुए, आज मैंने मेरे भगवान को नहीं देखा, मेरे प्रिय नाथ के दर्शन आज मुझे नहीं मिले!" – इसप्रकार धर्मी को भगवान के दर्शन बिना चैन नहीं पड़ती। (जिसप्रकार चेलना रानी को श्रेणिक के राज्य में पहले चैन नहीं पड़ती थी; उसीप्रकार।)

अन्तर में अपने धर्म की लगन है और पूर्णदशा की भावना है, इसलिये पूर्णदशा को प्राप्त भगवान से मिलने हेतु धर्मी के अन्तर में

---

1. इस विषय के संबंध में सत्तास्वरूप में भी बहुत विस्तार से चर्चा की गई है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तीव्र इच्छा आ गई है। साक्षात् तीर्थंकर के वियोग में उनकी वीतराग प्रतिमा को भी जिनवर समान ही समझकर भक्ति से दर्शन-पूजा करता है और वीतराग के प्रति बहुमान के कारण ऐसी भक्ति-स्तुति करता है कि देखनेवालों के रोम-रोम पुलकित हो जाते हैं।

इसप्रकार जिनेन्द्रदेव के दर्शन, मुनिवरों की सेवा, शास्त्र-स्वाध्याय और दानादि में श्रावक प्रतिदिन लगा रहता है।

यहाँ तो मुनिराज कहते हैं कि जो शक्ति होने पर भी प्रतिदिन जिनदेव के दर्शन नहीं करता; वह श्रावक ही नहीं है, वह तो पत्थर की नौका में बैठकर भवसागर में डूबता है। तो फिर जो वीतराग-प्रतिमा के दर्शन-पूजन का निषेध करे, उसकी तो बात ही क्या करना ? इसमें तो जिनमार्ग की अति विराधना है।

अरे ! सर्वज्ञ को पूर्ण परमात्मदशा प्रगट हो गई; वैसी परमात्मदशा से जिसे प्रेम हो, उसे उनके दर्शन का उल्लास आये बिना कैसे रहे ? वह तो प्रतिदिन भगवान के दर्शन करके अपनी परमात्मदशारूप ध्येय को प्रतिदिन ताजा रखता है।

भगवान के दर्शन की तरह मुनिवरों के प्रति भी परमभक्ति होती है। भरत चक्रवर्ती जैसे भी महान् आदरपूर्वक भक्ति से मुनियों को आहारदान देते थे और अपने आँगन में मुनि पधारें, उससमय अपने को धन्य मानते थे। अहा ! मोक्षमार्गी मुनि के दर्शन भी दुर्लभ हैं; यह तो धन्य भाग्य और धन्य घड़ी है कि उनके दर्शन मिलें। मुनि के विरहकाल में बड़े धर्मात्माओं के प्रति भी ऐसा बहुमान का भाव आता है कि अहो ! धन्य भाग्य कि मेरे आँगन में धर्मात्मा के चरण पड़े।

ऐसे धर्म के उल्लास से धर्मी श्रावक मोक्षमार्ग को साधता है और जिसे धर्म का ऐसा प्रेम नहीं, वह संसार में डूबता है।

कोई कहे कि मूर्ति तो पाषाण की है ? परन्तु भाई ! इसमें ज्ञानबल से परमात्मा का निक्षेप किया है कि यह परमात्मा है। इस निक्षेप का इन्कार करना ज्ञान का ही इन्कार करने के समान है। जिनबिम्बदर्शन को तो सम्यग्दर्शन का निमित्त माना है; जो उस निमित्त का निषेध करे, उसे सम्यग्दर्शन का भी ज्ञान नहीं है।

समन्तभद्र स्वामी कहते हैं कि हे प्रभो ! हमें तेरी स्तुति का व्यसन पड़ गया है। जिसप्रकार व्यसनी मनुष्य अपने व्यसन की वस्तु के बिना नहीं रह सकता; उसीप्रकार सर्वज्ञ के भक्तों को स्तुति का व्यसन है,

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इसलिए वे भगवान की स्तुति – गुणगान के बिना नहीं रह सकते। धर्मात्मा के हृदय में सर्वज्ञदेव के गुणगान चित्रित हो गये हैं।

अहा ! साक्षात् भगवान देखने को मिलें – यह तो धन्य घड़ी है। कुन्दकुन्दाचार्य जैसों ने विदेह में जाकर सीमन्धरनाथ को साक्षात् देखा, उनकी तो क्या बात ? यहाँ अभी तो ऐसा काल नहीं है।

अरे ! तीर्थंकरों का विरह, महान संत – मुनियों का भी विरह – ऐसे काल में जिनप्रतिमा के दर्शन से भी धर्मीजीव भगवान के स्वरूप को याद करता है। जिसे वीतराग जिनमुद्रा को देखने की उमंग न हो, वह जीव संसार की तीव्र रुचि को लेकर संसारसागर में डूबनेवाला है। वीतराग का भक्त तो वीतरागदेव का नाम सुनते ही और दर्शन करते ही प्रसन्न हो जाता है।

जिसप्रकार सज्जन विनयवन्त पुत्र रोज सवेरे माता-पिता के पास जाकर विवेक से चरणस्पर्श करते हैं; उसीप्रकार धर्मीजीव प्रभु के पास जाकर, बालक जैसे होकर, विनय से प्रतिदिन धर्मपिता जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करते हैं, उनकी स्तुति-पूजा करते हैं; मुनिवरों को भक्ति से आहारदान देते हैं। ऐसे वीतरागी देव-गुरु की भक्ति के बिना जीव मिथ्यात्व की नाव में बैठकर चारगति के समुद्र में डूबता है और बहुमूल्य मनुष्यजीवन को नष्ट कर डालता है; अतः धर्म के प्रेमी जीव देव-गुरु की भक्ति के कार्यों में हमेशा अपने धन का और जीवन का सदुपयोग करें – ऐसा उपदेश है।

इसप्रकार आचार्य जिनेन्द्रदेव के दर्शन का तथा दान का उपदेश देकर, अब दाता की प्रशंसा करते हैं। ०००००

जैनधर्म का चरणानुयोग भी अलौकिक है। द्रव्यानुयोग के अध्यात्म का और चरणानुयोग का मेल है। दृष्टि सुधरे और परिणाम चाहे जैसे हुआ करें – ऐसा नहीं बनता। अध्यात्म की दृष्टि हो; वहाँ देव-गुरु की भक्ति, दान, साधर्मी के प्रति वात्सल्य आदि भाव सहज आते ही हैं। श्रावक के अन्तर में मुनिदशा की प्रीति है अर्थात् हमेशा त्याग की ओर लक्ष रहा करता है और मुनिराज को देखते ही भक्ति से उसका रोम-रोम उल्लसित हो जाता है। भाई ! ऐसा मनुष्य अवतार मिला है तो मोक्षमार्ग साधकर इसे सफल कर। – पूज्य श्री कानजी स्वामी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

कलियुग के कल्पवृक्ष

चिन्तारत्न-सुरद्रु कामसुरभि-स्पर्शोपलाद्या भुवि
ख्याता एव परोपकारकरणे दृष्टा न ते केनचित्।
तैरत्रोपकृतं न केषुचिदपि प्रायो न संभाव्यते
तत्कार्याणि पुनः सदैव विदधत् दाता परं दृश्यते ॥१९॥

सामान्यार्थ :– जगत् में चिन्तामणि, कल्पवृक्ष, कामधेनु गाय और पारस पत्थर परोपकार करने में प्रसिद्ध हैं, परन्तु यहाँ उपकार करते हुए उनको किसी ने नहीं देखा; उसीप्रकार उनके द्वारा उपकृत व्यक्ति भी किसी ने नहीं देखा; अतः यहाँ उनकी संभावना भी प्रायः नहीं है, परन्तु दातार अकेला मनोवांछित दान से सदैव चिन्तामणि आदि का काम करते हुए देखा जाता है, अतः दाता पुरुष ही उन चिन्तामणि आदि पदार्थों से उत्तम है।

श्लोक १९ पर प्रवचन

धर्मात्मा श्रावक दानादि द्वारा इस काल में कल्पवृक्ष आदि का कार्य करते हैं – ऐसा अब कहते हैं।

धर्मात्मा के लिए परमार्थरूप से चिन्तामणि तो अपनी आत्मा है कि जिसके चिंतन से सम्यग्दर्शन और केवलज्ञान आदि निधान प्रगट होते हैं। इस चैतन्यचिन्तामणि के सामने बाहर के चिन्तामणि, आदि की वांछा ज्ञानी को नहीं है, तथापि पुण्य के फल में चिन्तामणि कल्पवृक्ष आदि वस्तुएँ अवश्य होती हैं; उनके चिन्तवन से बाह्य सामग्री वस्त्र–भोजनादि मिलते हैं, परंतु उनके पास से धर्म अथवा सम्यग्दर्शनादि नहीं मिलता है।

चौथे काल में इस भरतभूमि में भी कल्पवृक्ष वगैरह थे; समवसरण में भी वे होते हैं; आजकल लोगों के पुण्य घट गये हैं, इसलिए वे वस्तुयें

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

यहाँ देखने में नहीं आती। आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसे पुण्यफल की महिमा हमें नहीं हैं; हमें तो वह दाता ही उत्तम लगता है, जो धर्म की आराधना सहित दान करता है। दान के फल में कल्पवृक्ष आदि तो इसके पास सहजरूप में आवेंगे।

पारस पत्थर लोहे को सोना करता है – इसमें क्या ? इस चैतन्य-चिन्तामणि का स्पर्श होते ही आत्मा पामर से परमात्मा बन जाता है – ऐसा चिन्तामणि ज्ञानी के हाथ में आ गया है। वह धर्मात्मा अन्तर में राग घटाकर धर्म की वृद्धि करता है और बाह्य में भी 'धर्म की वृद्धि कैसे हो, देव-गुरु की भावना और महिमा कैसे बढ़े, धर्मात्मा – साधर्मी को धर्मसाधन में अनुकूलता किसप्रकार हो' – ऐसी भावना से वह दानकार्य करता है। जब आवश्यकता हो, तब और जितनी आवश्यकता हो, उतना देने के लिए वह सदैव तैयार रहता है; इसलिये वह वास्तव में चिन्तामणि और कामधेनु है। दाता पारसमणि के समान है, क्योंकि वह उसके सम्पर्क में आनेवाले की दरिद्रता दूर करता है।

मेरुपर्वत के पास देवकुरु-उत्तरकुरु भोगभूमि हैं, वहाँ कल्पवृक्ष होते हैं, वे इच्छित सामग्री देते हैं; वहाँ जुगलिया[1] जीव होते हैं और कल्पवृक्ष से अपना जीवननिर्वाह करते हैं। दान के फल में जीव वहाँ जन्म लेता है। यहाँ भी प्रथम, द्वितीय, तृतीय काल में ऐसे कल्पवृक्ष थे; परन्तु वर्तमान में नहीं हैं, इसलिये शास्त्रकार कहते हैं कि ये कल्पवृक्ष आदि प्रसिद्ध होते हुए भी वर्तमान में यहाँ तो वे किसी का उपकार करते देखने में नहीं आते, यहाँ तो दातार श्रावक ही इच्छित दान द्वारा उपकार करता देखने में आता है। चिन्तामणि आदि तो वर्तमान में श्रवणमात्र हैं, दीखते नहीं; परन्तु चिन्तामणि की तरह उदारता से दान करनेवाला धर्मी श्रावक तो वर्तमान में भी दिखाई देता है।

देखो ! नौ सौ वर्ष पूर्व पद्मनन्दी मुनिराज ने यह शास्त्र रचा है, उससमय ऐसे श्रावक थे। पद्मनन्दी मुनिराज महान संत थे। वनवासी दिगम्बर संतों ने सर्वज्ञ के वीतरागमार्ग की यथार्थ प्रणाली को टिका रखा है। दिगम्बर मुनि तो जैनशासन के स्तम्भ हैं। पद्मनन्दी मुनिराज ने इस शास्त्र में वैराग्य और भक्ति के उपदेश की रेलमछेल की है,

1. भोगभूमि में स्त्री-पुरुष की एकसाथ उत्पत्ति होती है तथा उनका मरण भी एकसाथ होता है, इसकारण उन्हें 'जुगलिया' कहा जाता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उसीप्रकार निश्चय-पंचाशत् आदि अधिकारों में शुद्धात्मा के अध्यात्म-स्वरूप का अध्ययन किया है। कुन्दकुन्द स्वामी का भी दूसरा नाम 'पद्मनन्दी स्वामी' था ? परन्तु ये पद्मनन्दी मुनिराज तो उनसे लगभग एक हजार वर्ष बाद हुए। वे कहते हैं कि दान करनेवाला उत्तम श्रावक धर्मात्मा चिन्तामणि के समान है।

संघ में जरूरत पड़े अथवा जिनमंदिर नया-बड़ा कराना हो तो श्रावक कहता है कि कितना खर्च होगा ? – सवा लाख रुपया।

तब वह तुरन्त कहता है – यह लो और उत्तम मन्दिर बनवाओ।

इसप्रकार उदारता से दान देनेवाले धर्मात्मा थे। इसके लिए घर-घर जाकर चन्दा नहीं करना पड़ता था। अपनी शक्ति होते हुए भी धर्म का कार्य रुके – यह धर्मीजीव देख नहीं सकता; इसलिए कहते हैं कि धर्मात्मा श्रावक ही उदारता से मनोवांछित दान देनेवाला चिन्तामणि, कल्पवृक्ष और कामधेनु है; जब आवश्यकता पड़े, तब दे। आवश्यकता पड़ने पर दान न दे तो वह दातार कैसा ? धर्मप्रसंग में आवश्यकता पड़ने पर दातार छिपा नहीं रहता। जिसप्रकार देश के लिए भामाशाह ने अपनी सम्पूर्ण संपत्ति महाराणा प्रताप के सामने रख दी थी, उसीप्रकार धर्मीजीव धर्म के लिए जरूरत पड़ने पर अपना सर्वस्व अर्पण कर देता है। दाता को चिन्तामणि आदि से भी दान प्रिय है; क्योंकि चिन्तामणि आदि उपकारी वस्तुएँ तो पूर्व में सत्पात्र दान से बँधे हुए पुण्य के कारण से हैं, इसलिए वास्तव में दाता में ही यह सब समा जाता है।

इसप्रकार दाता की प्रशंसा की गई।

०००००

दाता की महिमा

आचार्यदेव कहते हैं कि पुण्यफलरूप चिन्तामणि आदि की महिमा हमें नहीं, हमें तो वह दाता ही उत्तम लगता है कि जो धर्म की आराधना सहित दान करता है, अपनी शक्ति होते हुए भी धर्मकार्य रुके – ऐसा धर्मी जीव देख नहीं सकता।

– पूज्य श्री कानजी स्वामी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

धर्मोन्नति में धर्मात्माओं का महत्त्व

यत्र श्रावकलोक एष वसति स्यात्तत्र चैत्यालयो
यस्मिन् सोऽस्ति च तत्र सन्ति यतयो धर्मश्च तैः वर्तते।
धर्मे सत्यघसंचयो विघटते स्वर्गापवर्गाश्रयं
सौख्यं भावि नृणां ततो गुणवतां स्युः श्रावकाः संमताः ॥२०॥

सामान्यार्थ :– जहाँ धर्मात्मा श्रावकजन निवास करते हों, वहाँ चैत्यालय – जिनमन्दिर होता है तथा जहाँ जिनमन्दिर हो, वहाँ मुनि आदि धर्मात्मा होते हैं तथा धर्म की प्रवृत्ति चलती है। धर्म द्वारा पूर्वसंचित पापों का नाश होता है और स्वर्ग-मोक्ष के सुख की प्राप्ति होती है। इसप्रकार धर्म की प्रवृत्ति के कारण होने से श्रावकों का गुणवान पुरुषों के द्वारा यथायोग्य सम्मान करना चाहिये।

श्लोक २० पर प्रवचन

अब, जहाँ धर्मात्मा श्रावक रहते हों, वहाँ अनेक प्रकार से धर्म की प्रवृत्ति चला करती है – यह बतलाकर उसकी प्रशंसा करते हैं। जहाँ धर्मी श्रावक निवास करता हो, वहाँ धर्म की प्रवृत्ति कैसी चलती है, वह बतलाते हैं।

श्रावक जहाँ निवास करता हो, वहाँ वह दर्शन-पूजन के लिए जिनमन्दिर बनवाता है। जहाँ जिनमन्दिर होता है, वहाँ अनेक मुनि आदि विहार करते-करते आते हैं और उनके उपदेश आदि से धर्म की प्रवृत्ति चला करती है तथा स्वर्ग-मोक्ष का साधन होता है। श्रावक हो, वहाँ ही यह सब होता है; इसलिए भव्य जीवों को ऐसे उत्तम श्रावक का

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आदर-सत्कार करना चाहिये। 'संमता:' अर्थात् धर्मात्माओं को यह इष्ट है, मान्य है, उनके द्वारा प्रशंसनीय है।

देखिये! जहाँ श्रावक रहते हों, वहाँ जिनमन्दिर तो होना ही चाहिये। यदि थोड़े श्रावक हों और छोटा गाँव हो तो भी पहिले दर्शन-पूजन हेतु चैत्यालय बनवावे, चाहे छोटा-सा ही हो। पूर्वकाल में कई श्रावक घर में ही चैत्यालय स्थापित करते थे। देखिये न! मूड़बिद्री (दक्षिण देश) में रत्नों की कैसी जिनप्रतिमायें हैं? ऐसे जिनदेव के दर्शन से तथा मुनि आदि के उपदेशश्रवण से पूर्व के बँधे हुए पाप क्षण में छूट जाते हैं।

पहिले तो स्थान-स्थान पर ग्रामों में जिनमन्दिर थे, क्योंकि दर्शन बिना तो श्रावक का चले ही नहीं। दर्शन किये बिना खाना तो बासी भोजन समान कहा गया है। जहाँ जिनमन्दिर और जिनधर्म न हो, वह गाँव तो श्मशानतुल्य कहा गया है; अतः जहाँ-जहाँ श्रावक होते हैं, वहाँ-वहाँ जिनमन्दिर होते हैं और मुनि आदि त्यागी धर्मात्मा वहाँ आया करते हैं, अनेक प्रकार के उत्सव होते हैं, धर्मचर्चा होती है और इनके द्वारा पाप का नाश तथा स्वर्ग-मोक्ष का साधन होता है।

जिनबिम्बदर्शन से निद्धत और निकाचित मिथ्यात्वकर्म के भी सैकड़ों टुकड़े हो जाते हैं – ऐसा उल्लेख सिद्धान्त में है; धर्म की रुचि सहित की यह बात है।

अहो! यह मेरे ज्ञायकस्वरूप का प्रतिबिम्ब – ऐसे भाव से दर्शन करने पर सम्यग्दर्शन न हो तो नया सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है और अनादि के पापों का नाश हो जाता है, मोक्षमार्ग खुल जाता है। गृहस्थ श्रावकों द्वारा ऐसे जिनमन्दिर की और धर्म की प्रवृत्ति होती है, अतः आचार्यदेव कहते हैं कि वे श्रावक धन्य हैं।

गृहस्थावस्था में रहनेवाले भाई-बहिन भी जो धर्मात्मा होते हैं, वे सज्जनों द्वारा आदरणीय होते हैं। श्राविका भी जैनधर्म की ऐसी प्रभावना करती है, वह श्राविका धर्मात्मा भी जगत के जीवों द्वारा सत्कार करने योग्य है। देखिये न! चेलनारानी ने जैनधर्म की कितनी प्रभावना की? इसप्रकार गृहस्थावस्था में रहनेवाले श्रावक-श्राविका अपनी लक्ष्मी आदि न्यौछावर करके भी धर्म की प्रभावना करते रहते हैं। सन्तों के हृदय में धर्म की प्रभावना के भाव रहते हैं, धर्म की शोभा हेतु धर्मात्मा श्रावक अपना हृदय भी अर्पण कर देते हैं – ऐसी धर्म की तीव्र लगन इनके हृदय में होती है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ऐसे श्रावकधर्म का यहाँ इस अधिकार में पद्मनन्दी स्वामी ने प्रकाश किया है – उद्योत किया है। इसका विस्तार और प्रचार करने जैसा है; अतः अपने प्रवचन में यह अधिकार तीसरी बार पढ़ा जा रहा है।[1]

देखिये ! इस श्रावकधर्म में भूमिकानुसार आत्मा की शुद्धि तो साथ ही वर्तती है। पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक उत्तम देवगति के सिवाय अन्य किसी गति में नहीं जाता – यह नियम है। स्वर्ग में जाकर वहाँ भी वह जिनेन्द्रदेव की भक्ति-पूजन करता है। छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते संत प्रमोद से कहते हैं कि अहो ! स्वर्ग-मोक्ष की प्रवृत्ति का कारणरूप वह धर्मात्मा श्रावक हमें सम्मत है, गुणीजनों द्वारा आदरणीय है।

श्रावक अकेला हो तो भी अपनी शक्ति-अनुसार दर्शन हेतु जिनमन्दिर आदि बनवावे। जिसप्रकार पुत्र-पुत्री के विवाह में उमंग-पूर्वक अपनी शक्ति-अनुसार धन खर्च करता है, अन्य के पास चंदा कराने के लिए नहीं आता; उसी प्रकार धर्मीजीव जिनमन्दिर आदि हेतु अपनी शक्ति-अनुसार धन खर्च करता है, अपनी शक्ति होते हुये भी धन न खर्चे और अन्य के पास माँगने जाय – यह शोभा नहीं देता।

जिनमन्दिर तो धर्म की प्रवृत्ति का मुख्य स्थान है। मुनि भी वहाँ दर्शन करने आते हैं। गाँव में किसी धर्मात्मा का आगमन हो तो वह भी जिनमन्दिर तो जरूर आता है। उत्तमकाल में ऐसा होता था कि मुनिवर आकाश में गमन करते समय नीचे मंदिर देखकर दर्शन करने आते थे और महान धर्मप्रभावना होती थी।

अहो ! ऐसे वीतरागी मुनि का वर्तमान में तो दर्शन होना कठिन है। आज वन में विचरण करनेवाले सिंह जैसे मुनिवरों के दर्शन तो बहुत दुर्लभ हैं। धर्म की प्रवृत्ति धर्मात्मा श्रावकों द्वारा चला करती है, इसलिए ऐसे श्रावक प्रशंसनीय हैं।

---

1. इस श्रावकधर्मप्रकाश पुस्तक में पूज्य स्वामीजी के देशव्रतोद्योतन अधिकार पर हुए तीनों बार के प्रवचनों को सम्पादित करके प्रकाशित किया गया है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वे श्रावक धन्य हैं

काले दुःखमसंज्ञके जिनपतेर्धर्मे गते क्षीणतां
तुच्छे सामयिके जने बहुतरे मिथ्यान्धकारे सति।
चैत्ये चैत्यगृहे च भक्तिसहितो यः सोऽपि नो दृश्यते
यस्तत्कारयते यथाविधि पुनर्भव्यः स वंद्यः सताम् ॥२१॥

सामान्यार्थ :– इस दुखमा नामक पंचम काल में जिनेन्द्र भगवान द्वारा कथित धर्म क्षीण होता जा रहा है। इसमें जैनागम अथवा जैनधर्म का आश्रय लेनेवाले जन थोड़े और अज्ञानरूप अन्धकार का प्रचार करनेवाले बहुत अधिक हैं – ऐसी अवस्था में जिनप्रतिमा और जिनगृह के प्रति भक्ति रखनेवाले मनुष्य भी देखने में नहीं आते; फिर भी जो भव्य विधिपूर्वक उक्त जिनप्रतिमा और जिनगृह का निर्माण करता है, वह सज्जन पुरुषों के द्वारा वंदनीय है।

श्लोक २१ पर प्रवचन

जहाँ तीर्थंकर भगवान विराजते हैं, वहाँ तो धर्म की अविरल धारा चलती है, चक्रवर्ती और इन्द्र जैसे इस धर्म की आराधना करते हैं; परन्तु वर्तमान में तो यहाँ जैनधर्म बहुत घट गया है। तीर्थंकरों का विरह, मुनिवरों की भी दुर्लभता, विपरीत मान्यता के पोषण करनेवाले मिथ्यामार्गों का अन्त नहीं – ऐसी विषमता के समूह के बीच में भी जो जीव धर्म के प्रेम को स्थिर रखकर भक्ति से जिनमन्दिर आदि बनवाते हैं, वे धन्य हैं। दर्शनदशक में भी आता है :–

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

चैत्यालय जो करें धन्य सो श्रावक कहिये।
तामें प्रतिमा धरें धन्य सो भी सरदहिये ।।[1]

पूर्व में तो भरत चक्रवर्ती जैसे ने भी कैलास पर्वत पर तीन चौबीसी तीर्थंकरों के रत्नमय जिनबिम्बों की स्थापना की थी। दूसरे भी अनेक बड़े-बड़े राजा-महाराजा और धर्मात्माओं ने विशाल जिनमन्दिर बनवाये थे।

देखो ! मूड़बिद्री में 'त्रिभुवनतिलक चूड़ामणि' जिनमन्दिर कितना बड़ा है ? उसके एक हजार तो स्तंभ हैं और महामूल्य रत्नों की पैंतीस मूर्तियाँ भी वहाँ हैं, ये भी धर्मात्मा श्रावकों ने दर्शनहेतु स्थापी हैं।

श्रवणबेलगोला में भी इन्द्रगिरि पहाड़ में खुदी हुई ५७ फीट ऊँची बाहुबली भगवान की प्रतिमा कितनी अद्‌भुत है ? अहा ! जैसे वीतरागता का पिण्ड हो ! पवित्रता और पुण्य दोनों उसमें दिखाई दे रहे हैं। इसप्रकार श्रावक बहुत भक्ति से जिनबिम्ब स्थापित और जिनमन्दिर निर्माण करता है।

आजकल तो यहाँ अनार्यवृत्तिवाले जीव बहुत और आर्यवृत्तिवाले जीव थोड़े, उनमें भी जैन थोड़े, उनमें भी धर्म के जिज्ञासु बहुत थोड़े और उनमें भी धर्मात्मा और साधु तो अत्यन्त विरले। वस्तुतः वे तीनों काल में विरल हैं, परन्तु वर्तमान में यहाँ तो बहुत ही विरले हैं। जहाँ देखो, वहाँ कुदेव और मिथ्यात्व का जोर फैला हुआ है। ऐसे कलिकाल में भी जो जीव भक्तिपूर्वक जिनालय और जिनबिम्ब की विधिपूर्वक स्थापना कराते हैं; वे जिनदेव के भक्त, सम्यग्दृष्टि, धर्म के रुचिवंत हैं और ऐसे धर्मीजीवों की सज्जन लोग प्रशंसा करते हैं।

देखो भाई ! जिनमार्ग में वीतराग-प्रतिमा अनादि की है। स्वर्ग में शाश्वत जिनप्रतिमायें हैं, नन्दीश्वर में हैं, मेरुपर्वत पर हैं। पाँच सौ धनुष्य के रत्नमय जिनबिम्ब ऐसे अलौकिक हैं मानों कि साक्षात् तीर्थंकर हों और अभी वाणी खिरगी ? कार्तिक, फाल्गुन और अषाढ़ मास की अष्टाह्निका में इन्द्र और देव नन्दीश्वर जाकर महा भक्तिपूर्वक दर्शन-पूजन करते हैं।

शास्त्रों में अनेक प्रकार के महापूजन कहे हैं। इन्द्र द्वारा पूजा हो,

---

1 कविवर साहिबराय : दर्शनदशक, छन्द १०

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वह इन्द्रध्वज पूजा है। चक्रवर्ती किमिच्छक दानपूर्वक राजाओं के साथ जो महापूजा करता है, उसे कल्पद्रुमपूजा कहते हैं। अष्टाह्निका में जो विशेष पूजा होती है, उसे अष्टाह्निका पूजन कहते हैं। मुकुटबद्ध राजा जो पूजन कराते हैं, उसे सर्वतोभद्र अथवा महामहः पूजा कहते हैं। प्रतिदिन श्रावक जो पूजा करे, वह नित्यमहः पूजन हैं।

भरत चक्रवर्ती महापूजन रचाते थे, उसका विशद वर्णन आदिपुराण में आता है। सूर्य के अन्दर शाश्वत जिनबिम्ब हैं। भरत चक्रवर्ती को चक्षु सम्बन्धी ज्ञान का इतना तीव्र क्षयोपशम था कि वे अपने महल में से सूर्य में विराजमान जिनबिम्ब का दर्शन करते थे। उस पर से प्रातः सूर्यदर्शन का रिवाज प्रचलित हो गया। लोग मूल वस्तु को भूल गये और सूर्य को पूजने लगे, शास्त्रों में स्थान-स्थान पर जिनप्रतिमा का वर्णन आता है।

अरे! स्थानकवासी द्वारा माने हुए आगम में भी जिनप्रतिमा का उल्लेख आता है, परंतु वे उसका अर्थ विपरीत करते हैं।

एक बार संवत् १९७८ में मैंने (पूज्य श्री कानजी स्वामी ने) एक पुराने स्थानकवासी साधु से पूछा कि इन शास्त्रों में जिनप्रतिमा का भी वर्णन आता है,क्योंकि 'जिन के शरीरप्रमाण ऊँचाई' – ऐसी उपमा दी है। यदि यह प्रतिमा यक्ष की हो तो जिन की उपमा नहीं देते; तब उस स्थानकवासी साधु ने यह बात स्वीकार की और कहा कि आपकी बात सत्य है, है तो ऐसा ही, तीर्थंकर की ही प्रतिमा है; परंतु बाहर में ऐसा नहीं बोला जाता।

तब ऐसा लगा कि अरे, यह क्या ? अन्दर कुछ माने और बाह्य में दूसरी बात कहे – ऐसा भगवान का मार्ग नहीं होता। इन जीवों को आत्मा की दरकार नहीं; भगवान के मार्ग की दरकार नहीं; सत्य के शोधक जीव ऐसे सम्प्रदाय में नहीं रह सकते। जिनमार्ग में वीतराग मूर्ति की पूजा अनादि से चली आ रही है; बड़े-बड़े ज्ञानी भी उसे पूजते हैं। जिसने मूर्ति का निषेध किया, उसने अनन्त ज्ञानियों की विराधना की है।

शास्त्र में तो ऐसी कथा आती है कि जब महावीर भगवान राजगृही में पधारे और श्रेणिक राजा उनकी वंदना करने जाते हैं, तब एक मेंढक भी भक्ति से मुँह में फूल लेकर प्रभु की पूजा करने जाता है;

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वह राह में हाथी के पर के नीचे दबकर मर जाता है और देवपर्याय में उत्पन्न होकर तुरन्त भगवान के समवशरण में आता है।

धर्मीजीव भगवान के दर्शन करते हुए साक्षात् भगवान की याद करता है कि अहो भगवान ! अहो सीमन्धरनाथ ! आप विदेहक्षेत्र में हो और मैं यहाँ भरतक्षेत्र में हूँ, आपके साक्षात् दर्शन का मुझे विरह हुआ। प्रभो ! ऐसा अवसर कब आवे कि आपका विरह दूर हो अर्थात् राग-द्वेष का सर्वथा नाश करके आप जैसा वीतराग कब होऊँ ?

धर्मी ऐमी भावना द्वारा राग को तोड़ता है अर्थात् भगवान से वह क्षत्र अपेक्षा दूर होते हुए भी भाव से समीप है कि हे नाथ ! इस वैभव-विलास में रचापचा हमारा जीवन यह कोई जीवन नहीं, वास्तविक जीवन तो आपका है; आप केवलज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्दमय जीवन जी रहे हो, वही सच्चा जीवन है। प्रभो ! हमें भी यही उद्यम करना है। प्रभो ! वह घड़ी धन्य है कि जब मैं मुनि होकर आपके जैसा केवलज्ञान का साधन करूँगा। ऐसा पुरुषार्थ नहीं जागता, तबतक धर्मीजीव श्रावकधर्म का पालन करता है और दान, जिनपूजा आदि कार्यों द्वारा वह अपने गृहस्थजीवन को सफल करता है।

वर्तमान में तो मुनियों की दुर्लभता है और यदि मुनि हों तो भी वे जिनमन्दिर बनवाने या पुस्तक छपवाने जैसी प्रवृत्ति नहीं करते, बाह्य की कोई प्रवृत्ति का भार मुनि अपने सिर पर नहीं रखते, ऐसा कार्य तो श्रावक ही करते हैं। उत्तम श्रावक प्रगाढ़ भक्ति सहित जिनमन्दिर बनाता है, प्रतिष्ठा कराता हैं, उसकी शोभा बढ़ाता है। कहाँ क्या करना चाहिये और किसप्रकार धर्म की शोभा बढ़ेगी – ऐसा विचार कर प्रगाढ़ भक्ति करता है। उसकी भावना ऐसी होती है :-

चलो जिनमन्दिर दर्शन करने,
चलो प्रभु की भक्ति करने,
चलो धर्म का महोत्सव करने,
चलो कोई तीर्थ की यात्रा करने,

इसप्रकार श्रावक-श्राविका प्रगाढ़ भक्ति से जैनधर्म को शोभायमान करें।

अहा! शान्त दशा को प्राप्त धर्मीजीव कैसा होता है और उसे वीतरागी देव-गुरु की भक्ति का उल्लास कैसा होता है, उसकी भी जीवों

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

को खबर नहीं। पूर्व समय में तो वृद्ध, युवा, बहिनें और बालक सभी धर्मप्रेमी थे और धर्म द्वारा अपनी शोभा मानते थे। इसके बदले वर्तमान में तो सिनेमा का शौक बढ़ा है और स्वच्छन्द फूट पड़ा है। ऐसे विषमकाल में भी जो जीव जिनभक्तिवाला है, धम का प्रेमी है और जिनमन्दिर आदि बनवाता है – ऐसा श्रावक ही धन्य है!

०००००

सुख का उपाय

भाई! तुझे सुखी होना हो तो अपने ज्ञान में परमात्मा की स्थापना कर, बाह्य विषयों को स्थान न दे। आनन्द तो तेरा स्वरूप है, उसमें विषयों की आवश्यकता कहाँ है? इसलिये तो कहते हैं कि हे जीव! सुख अन्तर में है, उसे बाह्य में न ढूँढ़। जगत को सन्तुष्ट करने में और जगत से सन्तुष्ट होने में तो जीव ने अनन्तकाल गँवा दिया, परन्तु उसमें किंचित् सुख नहीं...... अन्तर्मुख रुचि द्वारा अपने आत्मा को सन्तुष्ट कर और आत्मा के स्वभाव से तू सन्तुष्ट हो, तो तुझे सच्चे सुख का अनुभव होगा। संयोग द्वारा सन्तुष्ट न हो, राग द्वारा सन्तुष्ट न हो; आनन्द का भण्डार तुझमें भरा है, उसमें तू संतुष्ट हो, प्रसन्न हो, आनन्दित हो।

जिसने चैतन्य का सुख देख लिया, वह धर्मात्मा जगत के किसी विषय में लुभाता नहीं है। धर्मी को चैतन्य में भरा हुआ अनन्त सुख का भण्डार ऐसा रुचिकर है कि वह उसी के स्वाद में तल्लीन हो जाता है। अनन्तसुख के धाम में जो लुभाया, वह किन्हीं सांसारिक विषयों के लालच में नहीं फँसता। सांसारिक पदार्थों की लालसा उसे छूट गई और चैतन्यानन्द के अनुभव की उत्कृष्ट लालसा (प्रीति) जागृत हुई; उसमें तल्लीन – एकाग्र होकर अतीन्द्रिय सुख का अनुभव करता है।

– पूज्य श्री कानजी स्वामी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

वीतरागता का प्रेमी

बिम्बादलोन्नति यवोन्नतिमेव भक्त्या
ये कारयन्ति जिनसद्म जिनाकृतिं च ।
पुण्यं तदीयमिह वागपि नैव शक्ता
स्तोतुं परस्य किमु कारयितुः द्वयस्य ।।२२।।

सामान्यार्थ :– जो जीव भक्ति से बेल के पत्र जितना छोटा जिनमन्दिर बनवाता है और जो जौ के दाने जितनी जिन-आकृति (जिनप्रतिमा) स्थापित करता है; उसके महान पुण्य का वर्णन करने के लिए इस लोक में सरस्वती (वाणी) भी समर्थ नहीं तो फिर जो जीव ये दोनों करता है अर्थात् ऊँचे-ऊँचे जिनमन्दिर बनवाता है और अतिशय भव्य जिनप्रतिमा स्थापित करवाता है, उसके पुण्य की तो क्या बात ?

श्लोक २२ पर प्रवचन

वीतरागी जिनमार्ग के प्रति श्रावक का उत्साह कैसा होता है और उसका फल क्या होता है, वह कहते हैं।

देखो ! इसमें 'भक्तिपूर्वक' की मुख्य बात है। मात्र प्रतिष्ठा अथवा मान-सम्मान के लिए अथवा देखादेखी से कितने ही पैसे खर्च कर दे, उसकी यह बात नहीं; परन्तु भक्तिपूर्वक अर्थात् जिसे सर्वज्ञ भगवान की कुछ पहचान हुई है और अन्तर में बहुमान पैदा हुआ है कि अहो ऐसे वीतरागी सर्वज्ञदेव ! ऐसे भगवान को मैं अपने अन्तर में स्थापित करूँ और संसार में भी इनकी प्रसिद्धि हो – ऐसे बहुमान से भक्तिभावपूर्वक जिनमन्दिर बनवाने का भाव जिसे आता है, उसे उच्च जाति का लोकोत्तर

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पुण्य बँधता है; क्योंकि उसके भावों में वीतरागता का बहुमान हुआ है। पश्चात् भले ही प्रतिमा मोटी हो या छोटी, परन्तु उसकी स्थापना में वीतरागता का बहुमान और वीतराग का आदर है – यही उत्तम पुण्य का कारण है।

भगवान की मूर्ति को यहाँ 'जिनाकृति' कहा है अर्थात् अरहन्त जिनदेव की जैसी निर्विकार आकृति होती है, वैसी ही निर्दोष आकृतिवाली जिनप्रतिमा होती है। जिनेन्द्र भगवान वस्त्र-मुकुट नहीं पहिनते और इनकी मूर्ति वस्त्र-मुकुट सहित हो तो उसे जिनाकृति नहीं कहते। 'जिन-प्रतिमा जिनसारखी, भाखी आगम माँय' – ऐसी निर्दोष प्रतिमा जिनशासन में पूजनीय है।

यहाँ तो कहते हैं कि अहो! जो जीव भक्ति से ऐसा वीतराग जिनबिम्ब और जिनप्रतिमा बनवाता है, उसके पुण्य की महिमा वाणी से कैसे कही जा सकती है? देखो तो सही, धर्मी के अल्प शुभ ..व का इतना फल तो इसकी शुद्धता की महिमा की तो क्या बात? जिसे अन्तर में वीतरागभाव रुचा, उसे वीतरागता के बाह्य निमित्तों के प्रति भी कितना उत्साह हो?

एक उदाहरण इसप्रकार आता है कि एक सेठ जिनमन्दिर बनवाता था; उसमें काम करते हुए पत्थर की जितनी रज कारीगर द्वारा निकाली जाती, उसके वजन के बराबर चाँदी देता था। सेठ के मन में ऐसा भाव था कि अहो! मेरे भगवान का मन्दिर बन रहा है तो उसमें कारीगरों को भी मैं प्रसन्न करूँ, जिससे मेरे मन्दिर का काम सुन्दर हो। उससमय के कारीगर भी सच्चे हृदयवाले थे। वर्तमान में तो लोगों की वृत्ति में बहुत फेरफार हो गया है। यहाँ तो भगवान के भक्त श्रावक धर्मात्मा को जिनमन्दिर और जिनप्रतिमा का कैसा शुभराग होता है, वह बतलाया है।

संसार में देखो तो, पाँच-दस लाख रुपयों की कमाई हो और लाख दो लाख रुपये खर्च करके बंगला बनवाता हो तो कितनी होंश करता है? कहाँ क्या चाहिये और किसप्रकार अधिक शोभा हो – इसका कितना विचार करता है? इसमें तो ममता का पोषण है; परन्तु धर्मात्मा को ऐसा विचार आता है कि अहो! मेरे भगवान जिसमें विराजमान हों – ऐसे जिनमन्दिर में क्या-क्या चाहिये और किस रीति से अधिक शोभायमान हो? इसप्रकार विचार करके होंश से (तन से, मन से, धन से)

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उसमें वर्तन करता है। वहाँ व्यर्थ की झूठी करकसर अथवा कंजूसाई नहीं करता।

भाई! ऐसे धर्मकार्य में तू उदारता रखेगा तो तुझे ऐसा लगेगा कि मैंने जीवन में धर्म के लिये कुछ किया है; एकमात्र पाप में ही जिन्दगी नहीं बिगाड़ी, परन्तु धर्म की तरफ के कुछ भाव किये हैं – इसप्रकार तुझे धर्म के बहुमान का भाव रहा करेगा। ऐसे भाव के साथ में जो पुण्य बँधता है, वह भी लौकिक दया-दान की अपेक्षा उच्च कोटि का होता है।

एक मकान बाँधनेवाला कारीगर जैसे-जैसे मकान ऊँचा होता जाता है, वैसे-वैसे वह भी ऊँचा चढ़ता जाता है; उसीप्रकार धर्मीजीव जैसे-जैसे शुद्धता में बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे उसके पुण्य का रस (अनुभाग) भी बढ़ता जाता है।

जिनमन्दिर और जिनप्रतिमा करानेवाले के भाव में क्या है? उसके भाव में वीतरागता का आदर है और राग का आदर छूट गया है। ऐसे भाव से करावे तो सच्ची भक्ति कहलाती है और वीतरागभाव के बहुमान द्वारा वह जीव अल्पकाल में राग को तोड़कर मोक्ष प्राप्त करता है; परन्तु यह बात लक्ष्य में लिए बिना कोई ऐसे ही कह दे कि 'तुमने मन्दिर बनवाया, इसलिए आठ भव में तुम्हारा मोक्ष हो जावेगा' – तो यह बात सिद्धान्त की नहीं है।

भाई! श्रावक को ऐसा शुभभाव होता है – यह बात सत्य है; परन्तु राग की जितनी हद हो, उतनी रखनी चाहिये। भगवान ने इस शुभराग के फल से उच्च कोटि का पुण्य-बन्धन तो कहा है, परन्तु उससे कर्मक्षय होने का विधान नहीं कहा है। कर्म का क्षय तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से ही कहा है।

अरे! सच्चे मार्ग और सच्चे तत्त्व को समझे बिना जीव कहाँ अटक जाता है। शास्त्र में व्यवहार के कथन तो अनेक प्रकार के आते हैं, परन्तु मूल तत्त्व को और वीतराग-भावरूप मार्ग को लक्ष्य में रखकर इसका अर्थ समझना चाहिये। शुभराग से ऊँचा पुण्य बँधता है – ऐसा बतलाने के लिए उसकी महिमा की, वहाँ कोई उसमें ही धर्म मानकर अटक जाता है।

अन्य कितने ही जीव तो भगवान का जिनमन्दिर होता है, वहाँ दर्शन करने भी नहीं जाते। भाई! जिसे वीतरागता का प्रेम होता है

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

और जिनमन्दिर का योग हो, वहाँ वह भक्ति से प्रतिदिन दर्शन करने जाता है। जिनमन्दिर बनवाने की बात तो दूर रही, परन्तु वहाँ दर्शन करने जाने का भी जिसे अवकाश नहीं, उसे धर्म का प्रेम कौन कहे? बड़े-बड़े मुनि भी वीतराग प्रतिमा का भक्ति से दर्शन करते हैं और उसकी स्तुति करते हैं

पोन्नूर ग्राम में एक पुराना मन्दिर है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव भी जब उस ग्राम में आये, तब वे भी वहाँ दर्शन करने जाते थे।[1] समन्तभद्र स्वामी ने भी भगवान की अद्भुत स्तुति की है। दो हजार वर्ष पूर्व किसी बड़े राजा को जिनबिम्ब-प्रतिष्ठा करवानी थी, तब कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने अपने शिष्य जयसेन मुनि को उसकी विधि के लिये शास्त्र रचने की आज्ञा दी और जयसेन स्वामी ने मात्र दो दिन में प्रतिष्ठापाठ की रचना की, इसलिये कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने उन जयसेनस्वामी को 'वसुबिन्दु' अर्थात् आठ कर्मों का अभाव करनेवाले – ऐसा विशेषण दिया। उनका रचा प्रतिष्ठा-पाठ 'वसुबिन्दु प्रतिष्ठापाठ' कहलाता है। उसके आधार से प्रतिष्ठा की विधि होती है।

बड़े-बड़े धर्मात्माओं को जिनभगवान की प्रतिष्ठा का, उनके दर्शन का ऐसा भाव आता है और तू कहता है कि मुझे दर्शन करने का अवकाश नहीं मिलता अथवा मुझे पूजा करते शर्म आती है तो तुझे धर्म की रुचि नहीं, देव-गुरु का तुझे प्रेम नहीं। पाप के काम में तुझे अवकाश मिलता है और यहाँ तुझे अवकाश नहीं मिलता – यह तो तेरा व्यर्थ का बहाना है। जगत् के पापकार्यों में, कालाबाजार आदि के करने में तुझे शर्म नहीं आती और यहाँ भगवान के समीप जाकर पूजा करने में तुझे शर्म आती है; वाह! बलिहारी है तेरी औंधाई की।

शर्म तो पापकार्य करने में आनी चाहिये, उसके बदले वहाँ तो तुझे प्रसन्नता होती है और धर्म के कार्य में शर्म आने की बात कहता है, वास्तव में तुझे धर्म का प्रेम ही नहीं है।

एक राजा की कथा आती है कि वह राजदरबार में आ रहा था। रास्ते में किन्हीं मुनिराज के दर्शन हुये, राजा ने भक्ति से उनके चरण में मुकुटबद्ध सिर झुकाया और पश्चात् राजदरबार में गया। दीवान

1. पूज्य स्वामीजी ने भी संवत् २०२० में दक्षिण की यात्रा करते समय पोन्नूर की यात्रा भी की थी।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ने मुकुट पर धूल लगी देखी तो वह उसे झाड़ने लगा। तब राजा उसे रोककर कहते हैं कि दीवानजी ! रहने दो; इस रज से तो मेरे मुकुट की शोभा है, यह रज तो मेरे वीतराग गुरु के चरण से पवित्र हुई है।

देखो यह भक्ति ! इसमें उसे शर्म नहीं आती कि अरे ! मेरे बहुमूल्य मुकुट में धूल लग गई अथवा अन्य मेरी हँसी उड़ावेंगे। अरे, भक्ति में शर्म कैसी ? भगवान के भक्त को दर्शन बिना चैन नहीं।

यहाँ (सोनगढ़ में) पहले जिनमन्दिर नहीं था, तब भक्तों को ऐसा विचार आया कि अरे ! अपने को यहाँ भगवान का विरह हुआ है, उनका साक्षात् तो दर्शन है नहीं और उनकी प्रतिमा के भी दर्शन नहीं – इसप्रकार उन्हें दर्शन की भावना उत्पन्न हुई। अत: संवत् १९९७ में यह जिनमन्दिर बना। आचार्यदेव कहते हैं कि अहो ! भगवान के दर्शन से किसे प्रसन्नता न हो ? जो जिनमन्दिर तथा जिनप्रतिमा-स्थापन करावे, उसके पुण्य की क्या बात ?

भरत चक्रवर्ती ने पाँच-पाँच सौ धनुष्य की ऊँची प्रतिमायें स्थापित करवाईं थीं, उनकी शोभा की क्या बात ?

वर्तमान में भी देखिये ! (श्रवणबेलगोला में) भगवान की मूर्ति बाहुबली कैसी है ! अहा, वर्तमान में तो कहीं भी इसके समान अन्य मूर्ति नहीं। महान मुनि नेमीचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के द्वारा इसकी प्रतिष्ठा हुई है और इसके सामने की पहाड़ी (चन्द्रगिरि) पर एक जिनालय में उन्होंने गोम्मटसार की रचना की थी। बाहुबली भगवान की यह प्रतिमा गोमटेश्वर भी कहलाती है। यह सत्तावन फीट ऊँची है और इसका अचिन्त्य दर्शन है पुण्य और पवित्रता दोनों की झलक इनकी मुद्रा ऊपर चमकती है और बाहुबली भगवान की अन्य एक अत्यन्त छोटी (चने के दाने बराबर) रत्नप्रतिमा मूलबिद्री में है – ऐसी प्रतिमा कराने का उत्साह धर्मात्माओं को आता है – ऐसा यहाँ बताना है।

देखो ! यह किसकी बात चलती है ? यह श्रावक के धर्म की बात चलती है। आत्मा राग रहित शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, उसकी रुचि करके राग घटाने का अन्तर-प्रयत्न, वह गृहस्थधर्म का प्रकाश करनेवाला मार्ग है। उसमें दान के वर्णन में जिनप्रतिमा कराने का विशेष वर्णन किया है। जिसप्रकार जिसे धन प्रिय है, वह धनवान का गुणगान करता है; उसीप्रकार जिसे वीतरागता प्रिय है, वह भक्तिपूर्वक वीतरागदेव के गुणगान करता है, उनके विरह में उनकी स्थापना प्रतिमा में करके दर्शन-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

स्तुति करता है। इसप्रकार शुद्धस्वरूप की दृष्टि रखकर अशुभ स्थानों से बचता है – ऐसा श्रावक-भूमिका का धर्म है।

कोई कहे कि शुद्धता वह मुनि का धर्म और शुभराग वह श्रावक का धर्म; तो ऐसा नहीं है। धर्म तो मुनि को अथवा श्रावक को दोनों को एक ही प्रकार का राग रहित शुद्ध परिणतिरूप ही है; परन्तु श्रावक को अभी शुद्धता अल्प है, वहाँ राग के भेद जिनपूजा, दान आदि होते हैं, इसलिए शुद्धता के साथ इन शुभकार्यों को भी गृहस्थ के धर्मरूप वर्णन किया है अर्थात् इस भूमिका में ऐसे शुभभाव होते हैं।

देखिये ! नग्न – दिगम्बर सन्त, वन में बसनेवाले और स्वरूप की साधना में छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले मुनि को भी भगवान के प्रति कैसे भाव उल्लसित होते हैं ? वे कहते हैं कि छोटा-सा मन्दिर बनावे और उसमें जौ के दाने जितनी जिनप्रतिमा की स्थापना करे, उस श्रावक के पुण्य की अपूर्व महिमा है। अर्थात् उसे वीतरागभाव की जो रुचि हुई है, उसके महान फल की क्या बात ? प्रतिमा चाहे छोटी हो, परन्तु वह वीतरागता का प्रतीक है न ? उसकी स्थापना करनेवाले को वीतराग का आदर है – इसका फल महान है।

कुन्दकुन्द स्वामी तो कहते हैं कि अरहन्तदेव को बराबर पहचाने तो सम्यग्दर्शन हो जावे। जिसे वीतरागता प्रिय लगी, जिसे सर्वज्ञस्वभाव रुचा; उसे सर्वज्ञ-वीतराग देव के प्रति परमभक्ति का उल्लास आता है। इन्द्र जैसे भी देवलोक से उतरकर समवसरण में आ-आकर तीर्थंकर प्रभु के चरणों की सेवा करते हैं, हजार हजार आँखों से प्रभु को देखते हैं; तो भी उनकी तृप्ति नहीं होती। अहो ! आपकी वीतरागी शान्त मुद्रा देखा ही करें – ऐसा लगता है।

गृहस्थ की भूमिका में ऐसे भावों से ऊँची जाति का पुण्य बँधता है। उसे राग तो है, परन्तु राग की दिशा संसार की तरफ से हटकर धर्म की तरफ हो गई हैं; इसलिये वीतरागता की भावना खूब घुटती रहती है। अहा ! भगवान स्वरूप में ठहर गये-से लगते हों, ज्ञाता-दृष्टापने से जगत् को साक्षीरूप देख रहे हों और उपशम-रस की धारा बरस रही हो – ऐसी भाववाही जिनप्रतिमा होती है। ऐसी निर्विकार वीतराग जिनमुद्रा का दर्शन, वह अपने वीतरागस्वभाव के स्मरण और ध्यान का निमित्त है।

धर्मी का ध्येय वीतरागता है। जिसप्रकार चतुर किसान बीज को

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

चारे के लिये नहीं बोता, परन्तु अनाज के लिए बोता है, अनाज के साथ चारा भी बहुत होता है; उसीप्रकार धर्मी का प्रयत्न वीतरागता के लिये है, राग के लिए नहीं, चैतन्यस्वभाव की दृष्टिपूर्वक शुद्धता को साधते-साधते बीच में पुण्यरूपी ऊँचा घास भी बहुत पकता है। परन्तु इस घास को कोई मनुष्य नहीं खाता, मनुष्य तो अनाज खाते हैं; उसीप्रकार धर्मीजीव राग को अथवा पुण्य को आदरणीय नहीं मानता है, वीतराग-भाव को ही आदरणीय मानता है। देखो, इसमें दोनों बातें इकट्ठी है। श्रावक की भूमिका में राग कैसा होता है – इसका स्वरूप इसमें आ जाता है।

ज्ञानी को धर्म सहित जो पुण्य होता है, वह ऊँची जाति का होता है; अज्ञानी का पुण्य बिना सारवाला होता है, उसकी पर्याय में धर्म का दुष्काल है। जिसप्रकार उत्तम अनाज के साथ जो घास पकता है, वह घास भी पुष्टिकर होता है और दुष्काल में अनाज के बिना अकेला जो घास पकता है, उसमें बहुत पुष्टि नहीं होती; उसीप्रकार जहाँ धर्म का दुष्काल है, वहाँ पुण्य भी हलका होता है और धर्म की भूमिका में पुण्य भी ऊँची जाति का होता है।

तीर्थंकरपना, चक्रवर्तीपना, इन्द्रपना आदि का लोकोत्तर पुण्य धर्म की भूमिका में ही बँधता है। गृहस्थों को जिनमन्दिर, जिनबिम्ब बनवाने से तथा आहारदान आदि से महान पुण्य बँधता है; इसलिये मुनिराज नेउनका उपदेश दिया है।

अहो ! अविकृत स्वरूप के आनन्द में झूलनेवाले संत, जो प्राण जावें तो भी झूठ नहीं बोलते और जिन्हें इन्द्राणी भी आकाश से उतर आवे तो भी अशुभ वृत्ति नहीं उठती – ऐसे वीतरागी मुनि का यह यह कथन है। जगत् के पास से उन्हें एक कण भी नहीं चाहिये, मात्र जगत् के जीवों को लोभरूपी पाप के कुएँ से निकालने और धर्म में लगाने हेतु करुणापूर्वक उपदेश दिया है।

जिसका हृदय पत्थर जैसा हो, उसकी अलग बात है; परन्तु फूल की कली जैसा कोमल हृदय हो, उसे तो वीतरागी उपदेश की गुँजार सुनते ही प्रसन्नता हो उठेगी, जिनेन्द्र-भक्तिवंत तो आनन्दित होगा। जिसप्रकार उल्लू को अथवा घुग्घू को सूर्य का प्रकाश अच्छा नहीं लगता है, उसे तो अँधेरा अच्छा लगता है; उसीप्रकार चैतन्य का प्रकाश करनेवाला यह वीतरागी उपदेश जिसे नहीं रुचता, वह अभी मिथ्यात्व के

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

घोर अंधकार में पड़ा हुआ है। जिज्ञासु को तो ऐसा उल्लास आता है कि अहो ! यह तो मेरे चैतन्य का प्रकाश करनेवाली अपूर्व बात है। तीन लोक के नाथ जिनदेव जिसमें विराजमान होते हैं, उसकी शोभा हेतु धर्मी भक्तों को उल्लास होता है।

वादिराज स्वामी कहते हैं कि प्रभो ! आप जिस नगरी में अवतार लेते हैं, वह नगरी सोने की हो जाती है, तो ध्यान द्वारा मैंने मेरे हृदय में आपको स्थापित किया तो यह शरीर बिना रोग का सोने जैसा न होवे – यह कैसे हो सकता है ? और आपको आत्मा में विराजमान करते ही आत्मा में से मोहरोग नष्ट होकर शुद्धता न होवे – यह कैसे बने ?

धर्मी श्रावक को, उसीप्रकार धर्म के जिज्ञासु जैन को ऐसा भाव आता है कि अहो ! मैं मेरे वीतरागस्वभाव के प्रतिबिम्बरूप इस जिनमुद्रा को प्रतिदिन देखूँ। जिसप्रकार माता को पुत्र के बिना चैन न पड़े, उसीप्रकार भगवान के विरह में भगवान के पुत्रों को – भगवान के भक्तों को चैन नहीं पड़ती।

चेलना रानी श्रेणिक राजा के राज्य में आई; परन्तु श्रेणिक तो बौद्धधर्म को मानते थे, इसलिये उसे वहाँ जैनधर्म की छटा नहीं दिखी, इसकारण चेलना को किसीप्रकार चैन नहीं पड़ी। आखिर में राजा को समझाकर बड़े-बड़े जिनमन्दिर बनवाये और श्रेणिक राजा को भी जैनधर्म ग्रहण करवाया।

इसीप्रकार हरिषेण चक्रवर्ती की भी कथा आती है। उसकी माता जिनदेव की विशाल रथयात्रा निकालने की माँग करती रही; परन्तु दूसरी रानियों ने उस रथ को रुकवा दिया, इसलिये हरिषेण की माता ने अनशन की प्रतिज्ञा ली कि जब मेरे जिनेन्द्र भगवान का रथ धूमधाम से निकलेगा, तभी मैं आहार लूँगी। आखिर में उसके पुत्र ने चक्रवर्ती होकर धूमधाम से भगवान की रथयात्रा निकाली।

अकलंक स्वामी के समय में भी ऐसी ही बात हुई और उन्होंने बौद्ध गुरु को वाद-विवाद में हराकर भगवान की रथयात्रा निकलवायी और जैनधर्म की बहुत प्रभावना की।

इसप्रकार धर्मी श्रावक भक्तिपूर्वक जिनशासन की प्रभावना करते हैं, जिनमन्दिर बँधवाते हैं, वीतराग जिनबिम्ब की स्थापना करते हैं और इसके कारण उन्हें अतिशय पुण्य बँधता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

चाहे छोटी-सी वीतराग प्रतिमा हो, परन्तु स्थापना में त्रैकालिक वीतरागमार्ग का आदर है। इस मार्ग के आदर से ऊँचा पुण्य बँधता है।

इसप्रकार जिनदेव के भक्त धर्मी श्रावक अत्यन्त बहुमान से जिनमन्दिर तथा जिनबिम्ब की स्थापना करते हैं, वह बात कही तथा उसका उत्तम फल बतलाया। जहाँ जिनमन्दिर होता है, वहाँ सदैव धर्म के नये-नये मंगल उत्सव होते रहते हैं – यह बात अब अगली गाथा में कहेंगे।

ooooo

आत्मा का जीवन

भगवान आत्मा अतीन्द्रि महान पदार्थय है, वह चैतन्य प्राण से शाश्वत जीवित रहनेवाला है। जिसने अपना ऐसा अस्तित्व स्वीकार किया है, उसे जड़ इन्द्रिय आदि प्राणों के साथ एकताबुद्धि नहीं रहती; क्योंकि वे जड़ प्राण कहीं आत्मा के जीवन के कारण नहीं हैं। शरीरादि जड़ प्राण तो आत्मा से भिन्न हैं और पृथक् हो जाते हैं। यदि आत्मा उनसे जीवित रहता हो तो वे आत्मा से भिन्न क्यों होवें? उनके अस्तित्व से कहीं आत्मा का अस्तित्व नहीं, आत्मा का अस्तित्व अपने चैतन्य भावप्राण से ही है। ऐसे चैतन्य जीव को जिसने देखा, उस सम्यग्दृष्टि को मरण का भय क्यों हो? मरण ही मेरा नहीं, फिर मरण का भय कैसा?

इसप्रकार धर्मीजीव मरण के भय से रहित निःशंक तथा निर्भय परिणमन करता है। जगत मरण से भयभीत है; परन्तु ज्ञानी को तो आनन्द की लहर है, क्योंकि वह प्रथम से ही अपने को शरीर से भिन्न ही अनुभव करता है।

– पूज्य श्री कानजी स्वामी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

(२३)

धर्मप्रवृत्ति के विविध प्रकार

यात्राभिः स्नपनैर्महोत्सवशतैः पूजाभिरुल्लोचकैः
नैवेद्यै र्बलिभिर्ध्वजैश्च कलशैः तूर्यत्रिकैर्जागरैः ।
घंटाचामरदर्पणादिभिरपि प्रस्तार्य शोभां परां
भव्याः पुण्यमुपार्जयन्ति सततं सत्यत्र चैत्यालये ॥२३॥

सामान्यार्थ :– संसार में चैत्यालय के होने पर अनेक भव्य जीव यात्राओं (जलयात्रा आदि), अभिषेकों, सैंकडों महान् उत्सवों, अनेक प्रकार के पूजा-विधानों, चंदोबों, नैवेद्यों, अन्य उपहारों, ध्वजाओं, कलशों, तौर्यत्रिकों (गीत, नृत्य, वादित्र), जागरणों तथा घंटा, चामर और दर्पणादिकों के द्वारा उत्कृष्ट शोभा का विस्तार करके निरन्तर पुण्य का उपार्जन करते हैं ।

श्लोक २३ पर प्रवचन

जहाँ जिनमन्दिर हो, वहाँ श्रावक हमेशा भक्ति से नये-नये उत्सव करता है; उसका वर्णन करते हैं ।

देखो ! जहाँ धर्म के प्रेमी श्रावक हों, वहाँ जिनमंदिर होता है और जहाँ मन्दिर हो, वहाँ प्रतिदिन मंगल-महोत्सव होते रहते हैं। किसीसमय मन्दिर की वर्षगाँठ हो, भगवान के कल्याणक का प्रसंग हो, पर्यूषण हो, अष्टाह्निका पर्व हो – ऐसे अनेक प्रसंगों में धर्मीजीव भगवान के मन्दिर में पूजा-भक्ति का उत्सव करावे । इस बहाने दानादि में अपना धन खर्च करके शुभभाव करे और राग को घटावे ।

यद्यपि वीतराग भगवान तो कुछ नहीं देते और कुछ नहीं लेते, पूजा करनेवाले के प्रति अथवा निन्दा करनेवाले के प्रति उन्हें तो वीतराग-

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भाव ही वर्तता है; परन्तु भक्त को जिनमन्दिर की शोभा आदि का उल्लासभाव आये बिना नहीं रहता। अपने घर की शोभा बढ़ाने का भाव कैसे आता है? उसीप्रकार धर्मी को धर्मप्रसंग में जिनमन्दिर की शोभा किसप्रकार बढ़े – ऐसा भाव आता है।

श्रावक अत्यन्त भक्ति से शुद्धजल द्वारा भगवान का अभिषेक करे, तब उसे ऐसा भाव उल्लसित हो कि मानों साक्षात् अरहन्तदेव का ही स्पर्श हो रहा हो। जिसप्रकार पुत्र के लग्न आदि प्रसंग में उत्सव करता है और मंडप की तथा घर की शोभा करता है, उसकी अपेक्षा अधिक उत्साह से धर्मी जीव धर्म की शोभा और उत्सव करावे। जहाँ मन्दिर हो और जहाँ धर्मी श्रावक हो, वहाँ बारम्बार आनन्द-मंगल के ऐसे प्रसंग बना करें और घर के छोटे बच्चों में भी धर्म के संस्कार पड़ें।

धर्म के लिए जो अनुकूल न हो अथवा धर्म के लिए जो बाधाकारक लगे – ऐसे देश को, ऐसे संयोग को धर्मीजीव छोड़ दे। जहाँ जिनमन्दिर आदि हो, वहाँ धर्मात्मा रहे और वहाँ नये-नये मंगल-उत्सव हुआ करें। यदि कोई विशेष प्रकार का जिनमन्दिर अथवा जिनप्रतिमा हो तो वहाँ यात्रा करने के लिये अनेक श्रावक आवें। सम्मेदशिखर, गिरनार आदि तीर्थों की यात्रा भी श्रावक करता है। इसप्रकार यह मोक्षगामी सन्तों को याद करता है।

किसी समय मन्दिर की वर्षगाँठ हो, किसी समय मन्दिर को दस अथवा पच्चीस अथवा सौ वर्ष पूरे होते हों तो वह उसका उत्सव करे। कोई बड़े संत-महात्मा मुनि आदि पधारें, तब उत्सव करे। पुत्र-पुत्री के लग्नोत्सव-जन्मोत्सव आदि के निमित्त भी मंदिर में पूजनादि से शोभा करावे, रथयात्रा निकलवाये – इसप्रकार प्रत्येक प्रसंग में गृहस्थ धर्म को याद किया करे।

कोई नया महान् शास्त्र आवे, तब उसके बहुमान का उत्सव करे। शास्त्र अर्थात् जिनवाणी, वह भी भगवान की तरह ही पूज्य है। अपने घर को तोरण आदि से शृंगारित कैसे करता है और नये-नये वस्त्र लाता है? उसीप्रकार जिनमन्दिर के द्वार को भाँति-भाँति के तोरण आदि से शृंगारित करे और नये-नये चंदोबा आदि से शोभा बढ़ावे। इसप्रकार श्रावक के राग की दशा बदल गई है; साथ ही साथ वह यह भी जानता है कि यह राग पुण्यास्रव का कारण है और जितनी वीतरागी शुद्धता है, उतना ही मोक्षमार्ग है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जिनमन्दिर के ऊपर कलश तथा ध्वज चढ़वाने का भी महान उत्सव होता है। पहले तो शिखर में भी कीमती रत्न लगवाते थे, जो जगमगाते थे। नये-नये वीतरागी चित्रों द्वारा मन्दिर की शोभा करे – इसप्रकार श्रावक सर्व प्रकार से संसार का प्रेम कम करके धर्म का प्रेम बढ़ाता है। जिसे वीतरागमार्ग के प्रति प्रेम उल्लसित हुआ है, उसे ऐसे भाव श्रावकदशा में आते हैं।

इस धूल के ढेर जैसे शरीर का फोटो किसप्रकार निकलवाता है, कितने प्रेम से देखता है और श्रृँगार करता है ? तो वीतरागी जिनबिम्ब वीतराग भगवान का फोटो है। परमात्मदशा जिसे प्रिय हो, उसे इनके प्रति प्रेम और उल्लास आता है।

केवल कुल विशेष में जन्म लेने से श्रावकपना नहीं हो जाता, परन्तु सर्वज्ञ की पहिचानपूर्वक श्रावकधर्म का आचरण करने से श्रावकपना होता है। समयसार में जैसा एकत्व-विभक्त शुद्धात्मा बतलाया है, वैसे शुद्ध आत्मा की पहिचानपूर्वक सम्यग्दर्शन हो तो श्रावकपना शोभा देता है। सम्यग्दर्शन के बिना श्रावकपना शोभा नहीं देता।

निर्विकल्प अनुभूति सहित सम्यग्दर्शन हो, उसके बाद आनन्द की अनुभूति और स्वरूपस्थिरता बढ़ जाने से अप्रत्याख्यान कषायों का भी अभाव होता है – ऐसी आंशिक अरागी दशा हो, उसका नाम श्रावकपना है और उस भूमिका में जो राग बाकी है, उसमें जिनेन्द्र दर्शन-पूजन, गुरुसेवा, शास्त्रस्वाध्याय, दान, अणुव्रत आदि होते हैं; इसलिये वह भी व्यवहार से श्रावक का धर्म है – ऐसे श्रावकधर्म का यह प्रकाशन है।

वर्तमान में तीर्थंकर भगवान साक्षात् नहीं हैं; परन्तु उनकी वाणी तो है, इस वाणी से भी बहुत उपकार होता है; इसलिए उस वाणी की (शास्त्र की) भी प्रतिष्ठा की जाती है और भगवान की मूर्ति के समक्ष देखने से ऐसा लगता है कि मानों साक्षात् भगवान मेरे सामने ही विराज रहे हैं। इसप्रकार अपने ज्ञान में भगवान को प्रत्यक्ष करके साधक को भक्तिभाव उल्लसित होता है। प्रतिदिन भगवान का अभिषेक करते समय प्रभु का स्पर्श होने पर श्रावक महान हर्ष मानता है कि अहो ! आज मैंने भगवान के चरण स्पर्श किये, आज भगवान की चरणसेवा का परमसौभाग्य मिला।

इसप्रकार धर्मात्मा के हृदय में भगवान के प्रति प्रेम उमड़ता है। मन्दिर में भगवान के पास से घर जाना पड़ता है, वहाँ उसे अच्छा नहीं

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

लगता, उसे लगता है कि भगवान के पास ही बैठा रहूँ। भगवान की पूजा आदि के बर्तन भी उत्तम होवें; घर में तो अच्छे बर्तन रखे और पूजन करने हेतु मामूली बर्तन ले जावे – ऐसा नहीं होता। इसप्रकार श्रावक को तो चारों ओर से सभी पहलुओं का विवेक होता है। साधर्मियों पर भी उसे परम वात्सल्यभाव होता है।

जिसे वीतरागस्वभाव का भान हुआ है और मुनिदशा की भावना वर्तती है – ऐसे जीव का यह वर्णन है। उसके पहले जिज्ञासु भूमिका में भी यह बात यथायोग्य समझ लेना चाहिये। धर्म के उत्सव में जो भक्तिपूर्वक भाग नहीं लेता, जिसके घर में दान नहीं होता; उसे शास्त्रकार कहते हैं कि भाई! तेरा गृहस्थाश्रम शोभा नहीं पाता। जिस गृहस्थाश्रम में रोज-रोज धर्म के उत्सव हेतु दान होता है, जहाँ धर्मात्मा का आदर होता है; वह गृहस्थाश्रम शोभा पाता है और वह श्रावक प्रशंसनीय है।

अहा! शुद्धात्मा को दृष्टि में लेते ही जिसकी दृष्टि में से सभी राग छूट गया है, उसके परिणाम में राग की कितनी मन्दता होती है? और यह मन्द राग भी सर्वथा छूटकर वीतरागता हो, तब केवलज्ञान और मुक्ति होती है। जो ऐसे मोक्ष का साधक हुआ है, उसे राग का आदर कैसे होवे? अपने वीतरागस्वभाव का जिसे भान है, वह सामने वीतरागबिम्ब को देखकर भी साक्षात् जिनेंद्र की तरह ही भक्ति करता है; क्योंकि उसने अपने ज्ञान में तो साक्षात्रूप में भगवान देखे हैं ना?

श्रावक को स्वभाव के आनन्द का अनुभव हुआ है। वह स्वभाव के आनन्दसागर में एकाग्र होकर बारम्बार उसका स्वाद चखता है, उपयोग को अन्तर में जोड़कर शान्तरस में बारम्बार स्थिर होता है; परन्तु वहाँ विशेष उपयोग नहीं ठहरता, इसलिये वह अशुभ प्रसंगों को छोड़कर शुभ प्रसंग में ही वर्तता है, उसका यह वर्णन है।

ऐसी भूमिकावाला आयु पूर्ण होने पर स्वर्ग में ही जावे – ऐसा नियम है; क्योंकि श्रावक को सीधी मोक्षप्राप्ति नहीं होती, सर्वसंगत्यागी मुनिपने के बिना सीधी मोक्षप्राप्ति किसी को नहीं होती। साथ ही पंचमगुणस्थानी श्रावक स्वर्ग सिवाय अन्य कोई गति में भी नहीं जाता, अत: श्रावक शुभभाव के फल में स्वर्ग में ही जाता है। पीछे क्या होता है, वह बात आगे की गाथा में कहेंगे।

परम्परा से मोक्ष के साधक : श्रावक

ते चाणुव्रतधारिणोऽपि नियतं यान्त्येव देवालयं
तिष्ठंत्येव महर्द्धिकामरपदं तत्रैव लब्ध्वा चिरम् ।
अत्रागत्य पुनः कुलेऽतिमहति प्राप्य प्रकृष्टं शुभात्
मानुष्यं च विरागतां च सकलत्यागं च मुक्तास्ततः ॥२४॥

सामान्यार्थ :– वह श्रावक चाहे मुनिव्रत न ले सके और अणुव्रतधारी ही हो तो भी आयु पूर्ण होने पर नियम से स्वर्ग में जाता है, वहाँ अणिमा आदि महान ऋद्धियों सहित बहुत काल पर्यन्त देवपद में रहता है। उसके बाद प्रकृष्ट शुभभाव द्वारा महान उत्तम कुल में मनुष्यपना प्राप्त कर, वैरागी होकर, सकल परिग्रह का त्याग कर, मुनि होकर शुद्धोपयोगरूपी साधन द्वारा मोक्ष पहुँचता है। इसप्रकार श्रावक परम्परा से मोक्ष को साधता है – ऐसा जानना।

श्लोक २४ पर प्रवचन

धर्मी श्रावक सर्वज्ञदेव को पहिचानकर प्रतिदिन देवपूजा आदि षट्कार्य करता है, जिनमन्दिर में अनेक उत्सव करता है और उससे पुण्य बाँधकर स्वर्ग में जाता है; वहाँ आराधना चालू रखकर बाद में उत्तम मनुष्य होकर मुनिपना लेकर केवलज्ञान और मोक्ष पाता है – ऐसी बात अब कहते हैं।

मुनि तो मोक्ष के साक्षात् साधक हैं और श्रावक परम्परा से मोक्ष का साधक है। श्रावक को केवल व्यवहारसाधन है – ऐसा नहीं, किन्तु उसे भी अंशरूप निश्चयसाधन होता है और वह निश्चय के बल से ही अर्थात् शुद्धि के बल से ही आगे बढ़कर राग तोड़कर केवलज्ञान और

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मोक्ष पाता है। श्रावक को अभी शुद्धता कम है और राग भी शेष है, इसलिये वह स्वर्ग में महान ऋद्धि सहित देव होता है।

सम्यग्दृष्टि श्रावक मरकर कभी भी विदेहक्षेत्र में जन्म नहीं लेता। मनुष्यगति से मरकर विदेहक्षेत्र में उत्पन्न होनेवाला तो मिथ्यादृष्टि ही होता है। पहले बँधी हुई आयु के कारण जो समकिती मनुष्य पुनः सीधा मनुष्य ही बने, वह तो असंख्य वर्ष की आयुवाली भोगभूमि में ही जन्म लेवे; विदेह आदि में जन्म नहीं लेता और पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक तो कभी मनुष्यपर्याय में से मनुष्य होता ही नहीं, देवगति में ही जाता है – ऐसा नियम है। सम्यग्दृष्टि मनुष्य कभी मनुष्य, तिर्यंच अथवा नरक की आयु नहीं बाँधता। मनुष्यगति में ये तीनों आयु मिथ्यादृष्टि की भूमिका में ही बँधती हैं। आयु बँधने पर चाहे सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाय – यह बात अलग है, परन्तु इन तीन में से कोई आयु बाँधते समय तो वह मनुष्य मिथ्यादृष्टि ही होता है।

सम्यग्दृष्टि यदि देव या नारकी हो तो वह तो मनुष्य की आयु बाँध सके; परन्तु सम्यग्दृष्टि मनुष्य, यदि उसे भव होवें और आयु बाँधे तो देवगति की आयु बाँधे, अन्य न बाँधे – ऐसा नियम है।

गृहस्थपने में अधिक से अधिक पाँचवें गुणस्थान तक की भूमिका होती है, इससे ऊँची भूमिका नहीं होती। वह अधिक से अधिक एक भवावतारी हो सके, परन्तु गृहस्थावस्था में मोक्ष नहीं पा सकता। बाह्य-अभ्यन्तर दिगम्बर मुनिदशा हुए बिना कोई जीव मोक्ष नहीं पा सकता।

श्रावक-धर्मात्मा आराधकभाव के साथ उत्तम पुण्य के कारण यहाँ से वैमानिक देवलोक में जाता है, वहाँ अनेक प्रकार महानऋद्धि और वैभव होते हैं; परन्तु धर्मी उनमें मूर्छित (मोहित) नहीं होता, वह वहाँ भी आराधना चालू रखता है। उसने आत्मा का सुख चखा है, इसलिये बाह्य वैभव में मूर्छित नहीं होता। स्वर्ग में जन्म होने पर वहाँ सबसे पहले उसे ऐसा भाव होता है कि अहो ! यह तो मैंने पूर्वभव में धर्म का सेवन किया था, उसका फल है; मेरी आराधना अधूरी रह गई और राग शेष रहा, इसकारण यहाँ अवतार हुआ; पहले जिनेन्द्रभगवान की पूजन-भक्ति की थी, उसका यह फल है, इसलिये चलो ! सबसे पहले जिनेन्द्र भगवान का पूजन करना चाहिये – ऐसा कहकर स्वर्ग में जो शाश्वत जिनप्रतिमायें हैं, उनकी पूजा करता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इसप्रकार वह स्वर्ग में भी आराधकभाव चालू रखकर, वहाँ असंख्य वर्ष की आयु पूर्ण होने पर उत्तम मनुष्यकुल में जन्म लेता है और योग्य काल में वैराग्य पाकर मुनि होकर आत्मसाधना पूर्ण करके केवलज्ञान प्रगट करके सिद्धालय में जाता है।

देखो इस श्रावकदशा का फल ! श्रावक को सिद्ध भगवान जैसे आत्मिक आनंद का अंश होता है और वह एकभवावतारी भी होता है – यह उत्कृष्ट बात कही। किसी जीव को दो-तीन अथवा अधिक से अधिक आठ भव भी (आराधकभाव सहित) होते हैं, परन्तु वे तो मोक्षपुरी में जाते-जाते बीच में विश्राम लेने जितने हैं।

देखो ! यह श्रावकधर्म के फल में मोक्षप्राप्ति कही है अर्थात् यहाँ श्रावकधर्म में एकमात्र पुण्य की बात नहीं, परन्तु सम्यक्त्व सहित शुद्धता की बात है। आत्मा के ज्ञान बिना सच्चा श्रावकपना नहीं होता। श्रावकपना क्या है – इसका भी बहुतों को ज्ञान नहीं। जैनकुल में जन्म लेने से ही श्रावकपना मान ले; परन्तु ऐसा श्रावकपना नहीं है, श्रावकपना तो आत्मा की दशा में है। अपन तो गृहस्थ हैं, इसलिये स्त्री-कुटुम्ब की सँभाल करना अपना कर्तव्य है – ऐसा अज्ञानी मानता है; परन्तु भाई ! तेरा सच्चा कर्तव्य तो अपनी आत्मा को सुधारने का है, जीवन में यही सच्चा कर्तव्य है, अन्य सँभाल करना तेरा कर्तव्य नहीं।

अरे, पहले ऐसी श्रद्धा तो कर ! श्रद्धा के पश्चात् अल्प रागादि होंगे; परन्तु धर्मी उसे कर्तव्य नहीं स्वीकारता, इसलिए वे रागादि लंगड़े हो जावेंगे, अत्यन्त मन्द हो जावेंगे।

जैसे रंग-बिरंगे कपड़े से लिपटी सोने की लकड़ी कोई वस्त्ररूप नहीं होती, उसीप्रकार चित्र-विचित्र परमाणुओं के समूह से लिपटी यह चैतन्य लकड़ी कोई शरीररूप हुई नहीं, भिन्न ही है।

आत्मा को जहाँ शरीर ही नहीं; वहाँ पुत्र, मकान आदि कैसे ? – ये तो स्वरूप से बाहर दूर पड़े हैं – ऐसा भेदज्ञान करना सच्चा विवेक और चतुराई है। बाहर की चतुराई में तो कोई हित नहीं, चतुर उसे कहते हैं जो चैतन्य को चेते–जाने। विवेकी उसे कहते हैं जो स्व-पर का विवेक करे अर्थात् भिन्नता जाने। जीव उसे कहते हैं जो ज्ञान-आनन्दमय जीवन जीवे। चतुर उसे कहते हैं जो आत्मा के जानने में अपनी चतुराई खर्च करे; आत्मा के जानने में जो मूढ़ रहे, उसे चतुर कौन कहे ? उसे विवेकी कौन कहे ? और आत्मज्ञान बिना जीवन को जीवन कौन कहे ?

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भाई ! मूलभूत वस्तु तो आत्मा की पहिचान है। तीर्थयात्रा का भी मुख्य हेतु यह है कि तीर्थों में आराधक जीवों का विशेष स्मरण होता है तथा किसी सन्त-धर्मात्मा का सत्संग मिलता है। अहिंसा आदि अणुव्रत का पालन, जिनेन्द्रदेव के दर्शन-पूजन एवं तीर्थयात्रा आदि से श्रावक को उत्तम पुण्य बँधता है और वह स्वर्ग में जाता है। श्रावक को ऐसी भावना नहीं है कि मैं पुण्य करूँ और स्वर्ग में जाऊँ; परन्तु जैसे किसी को चौबीस गाँव जाना हो और सोलह गाँव चलकर बीच में थोड़े समय विश्राम के लिये रुक जावे तो वह कोई वहाँ रुकने के लिये नहीं रुका, उसका ध्येय तो चौबीस गाँव जाने का है; उसीप्रकार धर्मी को सिद्धपद में जाते-जाते, राग छूटते-छूटते कुछ राग शेष रह गया है, इसलिये बीच में स्वर्ग का भव होता है; परन्तु इसका ध्येय कोई वहाँ रुकने का नहीं, उसका ध्येय तो परमात्मस्वरूप की प्राप्ति करना ही है। मनुष्यभव में हो अथवा स्वर्ग में हो, परन्तु वह परमात्मपद की प्राप्ति की भावना से ही जीवन बिताता है।

देखो ! श्रीमद् राजचन्द्रजी भी गृहस्थपना में रहकर मुनिदशा की कैसी भावना भाते थे ?[1] आंशिक शुद्ध परिणति से युक्त धर्मात्मा का जीवन भी अलौकिक होता है।

पुण्य और पाप अथवा शुभ या अशुभ राग विकृति है; उसके अभाव से आनन्ददशा प्रगट होती है, यह स्वाभाविक मुक्तदशा है। साधक श्रावक को भी ऐसी आनन्ददशा का नमूना प्रगट हो गया है। ऐसी दशा को पहचानकर, उसकी भावना भाकर जिसप्रकार बने, उसप्रकार स्वरूप में रमणता बढ़ाने और राग को घटाने का प्रयत्न करना, जिससे अल्पकाल में पूर्ण परमात्मदशा प्रगट होने का प्रसंग आवे।

भाई ! सम्पूर्ण राग न छूटे और तू गृहस्थदशा में हो, तब; तेरी लक्ष्मी को धर्मप्रसंग में खर्च करके सफल कर। जैसे चन्द्रकान्तमणि की सफलता कब ? चन्द्रकिरण के स्पर्श से उसमें से अमृत झरे तब; उसीप्रकार लक्ष्मी की शोभा कब ? सत्पात्र के योग से यह दान में खर्च होवे तब।

श्रावक धर्मीजीव निश्चय से तो अन्तर में स्वयं अपने को वीतराग-भाव का दान करता है और शुभराग द्वारा मुनियों के प्रति, साधर्मियों

---

1. श्रीमद् राजचन्द्रजी ने 'अपूर्व अवसर' काव्य में भी मुनिपद की उत्कृष्ट भावना भायी है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

के प्रति भक्ति से दानादि देता है, जिनेन्द्रदेव की पूजनादि करता है– ऐसा उसका व्यवहार है। इसप्रकार चौथे-पाँचवें गुणस्थान की भूमिका में धर्मी को ऐसा निश्चय-व्यवहार होता है।

कोई कहे कि चौथे गुणस्थान की भूमिका में जरा भी निश्चयधर्म नहीं होता; तो वह बात असत्य है, निश्चय बिना मोक्षमार्ग कैसा ? और वहाँ निश्चयधर्म के साथ जो पूजा-दान-अणुव्रत आदि व्यवहार है, उसे भी जो न स्वीकारे तो वह भी भूल है।

जिस भूमिका में जिसप्रकार का निश्चय-व्यवहार होता है, उसे बराबर स्वीकार करना चाहिये। व्यवहार के आश्रय से मोक्षमार्ग माने तो ही व्यवहार को स्वीकार किया कहा जाय – ऐसा श्रद्धान ठीक नहीं है। बहुत से ऐसा कहते हैं कि तुम व्यवहार के अवलम्बन से मोक्ष होना नहीं मानते, इसलिये तुम व्यवहार को ही नहीं मानते; परन्तु यह बात बराबर नहीं है। जगत में तो स्वर्ग-नरक, पुण्य-पाप, जीव-अजीव सब तत्त्व है; उनके आश्रय से लाभ माने तो ही उन्हें स्वीकार किया कहा जावे – ऐसा कोई सिद्धांत नहीं है; इसीप्रकार व्यवहार को भी समझना।

मुनिधर्म और श्रावकधर्म – ऐसे दोनों प्रकार के धर्मों का भगवान ने उपदेश दिया है। इन दोनों धर्मों का मूल सम्यग्दर्शन है। वहाँ स्वोन्मुखता के बल द्वारा जितना राग दूर होकर शुद्धता प्रगट हुई, उतना ही निश्चयधर्म है और महाव्रत, अणुव्रत अथवा दान-पूजा आदि संबंधी जितना शुभराग रहा, उतना उस भूमिका का असद्भूतव्यवहारनय से जानने योग्य व्यवहारधर्म है।

धर्मीजीव स्वर्ग में जाता है; वहाँ भी जिनेन्द्रपूजन करता है, भगवान के समवसरण में जाता है, नन्दीश्वरद्वीप जाता है, भगवान के कल्याणकप्रसंगों को मनाने आता है – ऐसे अनेक प्रकार के शुभकार्य करता है। देवलोक में धर्मी की आयु इतनी होती है कि देव के एक भव में तो असंख्य तीर्थंकरों के कल्याणक मनाये जाते हैं; इसलिये देवों को 'अमर' कहा जाता है।

देखो तो जीव के परिणाम की शक्ति कितनी है ! दो घड़ी के शुद्ध परिणाम द्वारा केवलज्ञान प्राप्त करे, दो घड़ी के शुभ परिणाम द्वारा असंख्य वर्ष तक का पुण्य बाँधे और अज्ञान द्वारा तीव्र पाप करे तो दो घड़ी में असंख्य वर्ष तक नरक के दुःख को प्राप्त करे।

उदाहरणस्वरूप ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की आयु सात सौ वर्ष की थी।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इन सात सौ वर्षों के संख्यात सेकन्ड होते हैं। इतने काल में उसने नरक की तेंतीस सागरों की अर्थात् असंख्यात अरब वर्ष की आयुष बाँधी अर्थात् एक-एक सेकन्ड के पाप के फल में असंख्य अरब वर्ष के नरक का दुःख प्राप्त किया।

पाप करते समय जीव को विचार नहीं रहता, परन्तु इस नरक के दुःख की बात सुने तो घबराहट हो जाय। यह जिस दुःख को भोगता है, उसकी पीड़ा की क्या बात? परन्तु इसका वर्णन सुनते ही अज्ञानी को भय पैदा हो जाय — ऐसा है; इसलिये ऐसा अवसर प्राप्त करके जीव को चेतना चाहिये। जो चेतकर आत्मा की आराधना करे तो उसका फल महान है।

जिसप्रकार पाप के एक सेकन्ड के फल में असंख्य वर्ष का नरक-दुःख कहा, उसीप्रकार साधकदशा के एक-एक समय की आराधना के फल में अनन्त काल का अनन्तगुना मोक्षसुख है। किसी जीव की साधकदशा का कुल काल असंख्य समय का ही होता है, संख्यात समय का नहीं होता अथवा अनन्त समय का नहीं होता और मोक्ष का काल तो सादि-अनन्त है अर्थात् एक-एक समय के साधकभाव के फल में अनन्तकाल का मोक्षसुख आया। वाह, कैसा लाभ का व्यापार!!

भाई! तेरे आत्मा के शुद्ध परिणाम की शक्ति कितनी है, वह तो देख! ऐसे शुद्ध परिणाम से आत्मा जागृत हो तो क्षणमात्र में कर्मों को तोड़फोड़ कर मोक्ष को प्राप्त कर ले। कोई जीव अन्तर्मुहूर्त ही मुनिपना पाले और उस अन्तर्मुहूर्त में शुभ परिणाम से ऐसा पुण्य बाँधे कि नववें ग्रैवेयक में इकतीस सागरोपम की स्थितिवाला देव होवे। देखो, इस जीव के शुभ, अशुभ अथवा शुद्ध परिणाम की शक्ति और उसका फल! उसमें जीव ने शुभ-अशुभ से स्वर्ग-नरक के भाव तो अनन्त बार किये; परन्तु जो जीव शुद्धता प्रगट करके मोक्ष को साधे, उसकी बलिहारी है।

कोई जीव देव से सीधा देव नहीं होता। कोई जीव देव से सीधा नारकी नहीं होता। कोई जीव नारकी से सीधा नारकी नहीं होता। कोई जीव नारकी से सीधा देव नहीं होता।

देव मरकर मनुष्य अथवा तिर्यंच में उत्पन्न होता है। नारकी मरकर मनुष्य अथवा तिर्यंच में उत्पन्न होता है। मनुष्य मरकर चारों में से किसी भी गति में उत्पन्न होता है। तिर्यंच मरकर चारों में से किसी भी गति में उत्पन्न होता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

यह सामान्य बात की, अब सम्यग्दृष्टि की बात :-

सम्यग्दृष्टि जीव देव से मनुष्य में ही आता है। सम्यग्दृष्टि जीव नरक से मनुष्य में ही आता है। सम्यग्दृष्टि जीव मनुष्य से देवगति में ही जाता है। यदि मिथ्यात्वदशा में आयु बँध गई हो तो नरक अथवा तिर्यंच अथवा मनुष्य में भी जाता है। सम्यग्दृष्टि जीव तिर्यंच से देवगति में ही जाता है।

पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक तो (तिर्यंच हो या मनुष्य) नियम से स्वर्ग में ही जाता है। उसे अन्य किसी गति की आयु नहीं बँधती।

इसप्रकार धर्मीश्रावक स्वर्ग में जाता है और वहाँ से मनुष्य होकर चौदह प्रकार का अन्तरंग और दस प्रकार का बाह्य – इसप्रकार सर्व परिग्रह छोड़कर, मुनि होकर शुद्धता की श्रेणी माँड़कर, सर्वज्ञ होकर सिद्धलोक को जाता है, वहाँ सदाकाल अनन्त आत्मिक आनन्द का भोग करता है। अहा, सिद्धों के आनन्द का क्या कहना !

इसप्रकार सम्यक्त्व सहित अणुव्रतरूप श्रावकधर्म श्रावक को परम्परा से मोक्ष का कारण है, इसलिये श्रावक उस धर्म को अंगीकार करके उसका पालन करे – ऐसा उपदेश है।

ooooo

चैतन्यमेरू आत्मा

शुद्धता के मेरू पर्वत जैसा यह चैतन्यस्वभाव है, इसमें कहीं भी विकार भरा हुआ नहीं है। असंख्य प्रदेशी आत्मा अचल मेरू है, वह चाहे जैसी प्रतिकूलता में भी निजस्वरूप से चलित नहीं होता, उसके गुण का एक अंश भी चलित नहीं होता, नष्ट नहीं होता। जिसप्रकार मेरू पर्वत ऐसा स्थिर है कि चाहे जैसे झंझावात में भी चलायमान नहीं होता। उसीप्रकार चैतन्यमेरू आत्मा निजस्वभाव में ऐसा अडोल है कि प्रतिकूलता की आँधी उसे चलित नहीं कर सकती, उसका कोई भी गुण या परिणति नष्ट नहीं होती। ऐसे स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करनेवाले धर्मात्मा प्रतिकूल संयोग के चक्रव्यूह के बीच भी स्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान से चलित नहीं होते। वह निःशंक जानते हैं कि मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ।

– पूज्य श्री कानजीस्वामी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मुमुक्षु को मोक्ष ही उपादेय

पुंसोऽर्थेषु चतुर्षु निश्चलतरो मोक्षः परं सत्सुखः
शेषास्तद्विपरीतधर्मकलिता हेया मुमुक्षोरतः।
तस्मात्तत्पदसाधनत्वधरणो धर्मोपि नो संमतः
यो भोगादिनिमित्तमेव स पुनः पापं बुधैर्मन्यते ॥२५॥

सामान्यार्थ :– धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष – इन चार पुरुषार्थों में मोक्ष ही निश्चल अविनाशी और सत्य सुखरूप है, शेष तीन तो विपरीत स्वभाववाले हैं अर्थात् अस्थिर और दुःखरूप हैं; अतः मुमुक्षु के लिए वे हेय हैं और केवल मोक्ष ही उपादेय है तथा मोक्ष के साधनरूप वर्तता हो, वह धर्म भी हमें मान्य है – संमत है अर्थात् मोक्षमार्ग को साधते-साधते उसके साथ महाव्रत अथवा अणुव्रत के जो शुभभाव होते हैं, वे तो संमत हैं; क्योंकि वे भी व्यवहार से मोक्ष के साधन हैं, परन्तु जो मात्र भोगादि के निमित्त हैं, उन्हें तो ज्ञानी पाप कहते हैं।

श्लोक २५ पर प्रवचन

श्रावक पुण्यफल को प्राप्त करके मोक्ष पाता है – ऐसा बतलाया। अब कहते हैं कि शुभराग होते हुए भी धर्मी को मोक्षपुरुषार्थ ही मुख्य है तथा उपादेय है और उसके साथ में होनेवाला अणुव्रतादि रूपजो व्यवहारधर्म है, वह भी मान्य है।

आचार्यदेव कहते हैं कि अहो ! सच्चा सुख तो एक मोक्षपद में ही है, अतः मुमुक्षुओं को उसका ही पुरुषार्थ करना चाहिये। इसके सिवाय अन्य भाव तो विपरीत होने से हेय हैं।

देखिये ! अन्य भावों को विपरीत और हेय कहा, उसमें शुभराग भी आ गया। इसप्रकार शुभराग को विपरीत और हेयरूप में स्वीकार

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

करके, पश्चात् यदि वह मोक्षमार्ग सहित हो तो उसे मान्य किया है अर्थात् व्यवहार से उसे मोक्षमार्ग में स्वीकार किया है, परन्तु यदि साथ में निश्चय-मोक्षसाधन (सम्यग्दर्शनादि) न होवे तो मोक्षमार्ग से रहित अकेले शुभराग को मान्य नहीं करते अर्थात् उसे व्यवहार-मोक्षसाधन भी नहीं कह सकते। इसके सिवाय जो काम और अर्थ सम्बन्धी पुरुषार्थ है, वह तो पाप ही है; अतः सर्वथा हेय है।

भाई ! उत्तम सुख का भण्डार तो मोक्ष है; अतः मोक्षपुरुषार्थ ही सर्व पुरुषार्थों में श्रेष्ठ है। पुण्य का पुरुषार्थ भी इसकी अपेक्षा हीन है और संसार के विषयों की प्राप्ति हेतु जितने प्रयत्न हैं, वे तो एकदम पाप हैं; अतः वे सर्वथा त्याज्य हैं। साधक को मोक्षपुरुषार्थ के साथ अणुव्रतादि शुभरागरूप जो धर्मपुरुषार्थ है, वह असद्भूतव्यवहारनय से मोक्ष का साधन है; अतः श्रावक की भूमिका में वह भी व्यवहारनय के विषय में ग्रहण करने योग्य है। मोक्ष का पुरुषार्थ तो सर्वश्रेष्ठ है, परन्तु उसके अभाव में अर्थात् निचली साधक दशा में व्रत-महाव्रतादिरूप धर्मपुरुषार्थ जरूर ग्रहण करना चाहिये।

अज्ञानी भी पाप छोड़कर पुण्य करता है तो इसे कोई अस्वीकार नहीं करते, पाप की अपेक्षा तो पुण्य भला ही है; परन्तु कहते हैं कि भाई ! मोक्षमार्ग बिना तेरा अकेला पुण्य शोभा नहीं पाता हैं; क्योंकि जिसे मोक्षमार्ग का लक्ष्य नहीं, वह तो पुण्य के फल में मिले हुये भोगों में आसक्त होकर पुनः पाप में चला जावेगा; अतः बुधजन – ज्ञानी – विद्वान ऐसे पुण्य को परमार्थ से पाप कहते हैं।[1]

मोक्ष में ही सच्चा सुख है ऐसा जो समझे, वह राग में या पुण्यफल में सुख कैसे माने ? नहीं माने। जिसकी दृष्टि अकेले राग में है और जिसे उसके फल में सुख लगता है, उसे तो शुभभाव के साथ भोग की अभिलाषा पड़ी है; अतः इस शुभ को मोक्षमार्ग में मान्य नहीं करते, उसे मोक्ष के साधन का व्यवहार घटित नहीं होता है। धर्मी को

1, पापरूप को पाप तो जानत जग सहु कोई।
पुण्यतत्त्व भी पाप है, कहत अनुभवी कोई ॥७१॥
जैसे बेड़ी लोह की, त्यौं सोने की जान।
करे शुभाशुभ दूर जो, ज्ञानी मर्म जु जान ॥७२॥
– मुनिराज योगिन्दुदेव : योगसार पद्यानुवाद

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मोक्षमार्ग साधते-साधते बीच में अभिलाषा रहित और श्रद्धा में हेयबुद्धि सहित शुभराग रहता है, उसमें मोक्ष के साधन का व्यवहार घटित होता है; परन्तु जो शुरू से ही राग को श्रद्धा में इष्ट मानकर अपनाता है, वह राग से दूर कैसे होवेगा ? और राग रहित मोक्षमार्ग में कहाँ से आवेगा ? ऐसे जीव के शुभ को तो समयसार में 'भोग हेतु धर्म' कहा है, उसे 'मोक्ष हेतु धर्म' नहीं कहते। मोक्ष के हेतुभूत सच्चे धर्म की अज्ञानी को पहचान भी नहीं है, राग रहित ज्ञान क्या है – उसे वह नहीं जानता, उसे शुद्ध ज्ञान के अनुभव का अभाव है, इसलिये उसे मोक्षमार्ग का अभाव है। धर्मी को शुद्ध ज्ञान के अनुभव सहित जो शुभराग शेष रहा, उसे व्यवहार से धर्म अथवा मोक्ष का साधन कहने में आता है।

नीचे की साधक भूमिका में ऐसा व्यवहार है जरूर; उसे जैसा है, वैसा मानना चाहिये। इसका अर्थ यह नहीं कि इसे ही उपादेय मानकर संतुष्ट हो जाना। वास्तव में मोक्षार्थी को उपादेय तो निश्चयरत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग ही है; उसके साथ उस-उस भूमिका में जो व्यवहार होता है, उसे व्यवहार से आदरणीय कहा जाता है। तीर्थंकरदेव का आदर करना, दर्शन-पूजन करना, मुनिवरों की भक्ति, आहारदान, स्वाध्याय, अहिंसादि व्रतों का पालन – यह सब व्यवहार है; वह सत्य है, मान्य है, आदरणीय है; परन्तु निश्चयदृष्टि में शुद्धात्मा ही उपादेय है और उसके आश्रय से ही मोक्षमार्ग है – ऐसी श्रद्धा प्रारम्भ से ही होनी चाहिये।

कोई जीव व्यवहार को एकान्त हेय कहकर देवदर्शन-पूजन-भक्ति, मुनि आदि धर्मात्मा का बहुमान, स्वाध्याय, व्रतादि को छोड़ दे और अशुभ को सेवे तो वह स्वच्छन्दी और पापी है। शुद्धात्मा के अनुभव में लीनता होते ही ये सब व्यवहार छूट जाते हैं, परन्तु उसके पूर्व तो भूमिका के अनुसार व्यवहार के परिणाम होते हैं।

शुद्धस्वरूप की दृष्टि और साथ में भूमिकानुसार व्यवहार – ये दोनों साधक को साथ में होते हैं। मोक्षमार्ग में ऐसा निश्चय-व्यवहार होता है। कोई एकान्त ग्रहण करे अर्थात् नीचे की भूमिका में भी व्यवहार को स्वीकार न करे अथवा कोई निश्चय बिना उस व्यवहार को ही सर्वस्व मान ले तो वे दोनों मिथ्यादृष्टि हैं, एकान्तवादी हैं और उन्हें निश्चय की अथवा व्यवहार की खबर नहीं है।

नय और निक्षेप सम्यग्ज्ञान में होते हैं अर्थात् वे सम्यग्दृष्टि के ही सच्चे होते हैं। स्वभावदृष्टि हुई, उस समय सम्यक भावश्रुत हुआ और

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उससमय प्रमाण और नय सच्चे हुए; बाद में निश्चय क्या और व्यवहार क्या – ऐसी उसको खबर पड़ती है। निश्चय-सापेक्ष व्यवहार धर्मी को ही होता है; अज्ञानी को जो एकान्त व्यवहार है, वह सच्चा मार्ग नहीं अर्थात् वह सच्चा व्यवहार नहीं।

धर्मीजीव शुद्धता को साधते हुए और बीच में भूमिकानुसार व्रतादि व्यवहार का पालन करते हुए अन्तर में अनन्तसुख के भंडाररूप मोक्ष को साधते हैं। मोक्षमार्ग मुमुक्षु का परमकर्तव्य है अर्थात् वीतरागता ही कर्तव्य है, राग नहीं। वीतरागता न हो; वहाँ तक क्रमशः जितना राग घटे, उतना घटाना प्रयोजनवान है। पहले सच्ची वीतरागी दृष्टि करे, क्योंकि इसके बाद ही धर्म में चरण पड़ते हैं।

समयसारकलश टीका में पाण्डे श्री राजमलजी कहते हैं कि मरके चूरा होते हुए बहुत कष्ट करते हैं तो करो तथापि ऐसा करते हुए कर्मक्षय तो नहीं होता।[1] देखो! तीन सौ वर्ष पहले पंडित बनारसीदासजी ने इन्हीं श्री राजमलजी को 'समयसार नाटक के मरमी'[2] कहा है।

श्रावकधर्म के मूल में भी सम्यग्दर्शन तो होता ही है। ऐसे सम्यक्त्व सहित राग घटाने का जो उपदेश है, वह हितकारी उपदेश है। भाई! किसी भी प्रकार जिनमार्ग को पाकर स्वद्रव्य के आश्रय के बल द्वारा राग घटा। इसमें तेरा हित है, दान आदि का उपदेश भी उसी के लिए दिया गया है।

कोई कहे कि खूब पैसा मिले तो उसमें से थोड़ा दान में लगाऊ, दस लाख मिले तो एक लाख लगाऊँ; इसमें तो उल्टी भावना हुई, लोभ का पोषण हुआ। पहले घर को आग लगाना और पीछे कुआँ खोदकर उसके पानी से आग बुझाना – इसप्रकार की यह मूर्खता है। वर्तमान में पाप बाँधकर पीछे दानादि करने को कहता है, इसकी अपेक्षा तू वर्तमान में ही तृष्णा घटा ले न?

भाई! एक बार आत्मा को जोर देकर तेरी रुचि की दिशा ही बदल डाल कि मुझे राग अथवा राग के फल कुछ नहीं चाहिये, आत्मा की शुद्धता के अतिरिक्त अन्य कुछ भी मुझे नहीं चाहिये। ऐसी रुचि

1. समयसारकलश टीका, श्लोक १४२
2. समयसार नाटक, अन्तिम प्रशस्ति, छन्द २३

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

की दिशा पलटने से तेरी दशा पलट जावेगी, अपूर्व दशा प्रगट हो जावेगी।

धर्मी को जहाँ आत्मा की अपूर्व दशा प्रगट हुई, वहाँ उसे देह में भी एक प्रकार की अपूर्वता आ गई; क्योंकि सम्यक्त्व आदि में निमित्तभूत हो – ऐसी देह पूर्व में कभी नहीं मिली थी अथवा सम्यक्त्व सहित का पुण्य जिसमें निमित्त हो – ऐसी देह पूर्व में मिथ्यात्वदशा में कभी नहीं मिली थी। वाह ! धर्मी का आत्मा अपूर्व, धर्मी का पुण्य भी अपूर्व और धर्मी का देह भी अपूर्व। धर्मी कहता है कि यह देह अन्तिम है अर्थात् फिर से ऐसी (विराधकपने की) देह मिलने की नहीं; कदाचित् कुछ भव होंगे और देह मिलेंगे तो वे आराधकभाव सहित ही होंगे, अतः उसके रजकण भी पूर्व में न आये हों – ऐसे अपूर्व होंगे; क्योंकि यहाँ जीव के भाव में (शुभ में भी) अपूर्वता आ गई है। धर्मीजीव की सभी बातें अलौकिक हैं।

भक्तामर-स्तोत्र के श्लोक १२ में श्री मानतुंग स्वामी भगवान की भक्ति करते हुए कहते हैं कि "हे प्रभु ! जगत् में उत्कृष्ट शान्तरसरूप परिणमित जितने रजकण थे, वे सब आपकी देहरूप परिणमित हो गये हैं।" – इस कथन में गहन भाव भरे हैं। प्रभो ! आपके केवलज्ञान की और चैतन्य के उपशमरस की तो अपूर्वता है ही और उसके साथ की परम-औदारिक देह में भी अपूर्वता है। ऐसी देह अन्य को नहीं होती। आराधक की सभी बातें जगत से अनोखी हैं, उसके आत्मा की शुद्धता भी जगत से अनोखी है और उसका पुण्य भी अनोखा है।

इसप्रकार मोक्ष और पुण्यफल दोनों की बात को फिर कहते हैं कि हे मुमुक्षु ! तुझे आदरणीय तो मोक्ष का ही पुरुषार्थ है, पुण्य तो इसका आनुषंगिक फल है अर्थात् अनाज के साथ के घास की तरह यह बीच में सहज ही आ जाता है। इसमें भी जहाँ हेयबुद्धि है, वहाँ श्रावक के लिये पाप की तो बात ही कैसी ? इसप्रकार धर्मी श्रावक को मोक्ष-पुरुषार्थ की मुख्यता का उपदेश दिया और उसके साथ पुण्य के शुभ परिणाम होते हैं – यह भी बतलाया।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अणुव्रतादि की सफलता

भव्यानामणुभिर्व्रतैरनणुभिः साध्यात्र मोक्षः परं
नान्यत् किंचिदिहैव निश्चयनयात् जीवः सुखी जायते ।
सर्वं तु व्रतजातमिदृशधिया साफल्यमेत्यन्यथा
संसाराश्रयकारणं भवति यत् तत्दुःखमेव स्फुटम् ।।२६।।

सामान्यार्थ :– भव्यजीव को अणुव्रत अथवा महाव्रत द्वारा मात्र मोक्ष ही साध्य है, संसार सम्बन्धी अन्य कोई भी साध्य नहीं; क्योंकि निश्चयनय से मोक्ष में ही जीव सुखी होता है – ऐसी बुद्धि से अर्थात् मोक्ष की बुद्धि से जो व्रतादि किये जाते हैं, वे सर्व सफल हैं; परन्तु इस मोक्षरूपी ध्येय को भूलकर जो व्रतादि किये जाते हैं, वे तो संसार के कारण हैं और साक्षात् दुःख ही हैं।

श्लोक २६ पर प्रवचन

धर्मीजीव को मोक्ष ही साध्यरूप है। मोक्षरूप साध्य को भूलकर जो अन्य का आदर करता है, उसके व्रतादि भी संसार के ही कारण होते हैं – ऐसा अब कहते हैं।

देखो! अधिकार पूरा करते हुए अन्त में स्पष्ट करते हैं कि भाई! हमने श्रावक के धर्मरूप में पूजा-दान आदि अनेक शुभभावों का वर्णन किया तथा अणुव्रत आदि का वर्णन किया; परन्तु उसमें जो शुभराग है, उसे साध्य न मानना, उसको ध्येय न मानना, ध्येय और साध्य तो सम्पूर्ण वीतरागभावरूप मोक्ष ही है और वही परमसुख है।

धर्मी की दृष्टि – रुचि राग में नहीं, उसे तो मोक्ष को साधने की ही भावना है। सच्चा सुख मोक्ष में ही है, राग में अथवा पुण्य के फल में कोई सुख नहीं; इसलिये हे भव्य! व्रत अथवा महाव्रत के पालने में उस-

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

उस प्रकार की अन्तरंगशुद्धि बढ़ती जाय और मोक्षमार्ग सधता जाय, उसे तू लक्ष्य में रखना। शुद्धता के साथ-साथ जो व्रत-महाव्रत के परिणाम होते हैं, वे मोक्षमार्ग के निमित्त हैं; परन्तु जरा भी शुद्धता जिसे प्रगट नहीं और मात्र राग की भावना में ही रुक गया है, उसका तो व्रतादि पालन करना भी संसार का कारण होता है और वह दुःख ही प्राप्त करता है। इसप्रकार मोक्षमार्ग के यथार्थ व्रत-महाव्रत सम्यग्दृष्टि को ही होते हैं – यह बात इसमें आ गई।

बीच में व्रत के परिणाम आवेगे, इनसे उच्च कोटि का पुण्य बँधेगा और देवलोक का अचिन्त्य वैभव मिलेगा; परन्तु हे मोक्षार्थी! तुझे इनमें किसी की रुचि अर्थात् भावना नहीं करनी है, भावना तो मोक्ष की ही करना कि कब यह राग तोड़कर मोक्षदशा प्राप्त हो; क्योंकि मोक्ष में ही आत्मिक सुख है, स्वर्ग के वैभव में भी सुख नहीं, आकुलता के अंगारे हैं।

धर्मी को भी स्वर्ग में जितना राग और विषयतृष्णा का भाव है, उतना क्लेश है, धर्मी को उससे छूटने की भावना है। ऐसी भावना से मोक्ष के लिये जो व्रत-महाव्रत पालन करने में आवें, वे सर्व सफल हैं और इससे विपरीत संसार के स्वर्गादि के सुख की भावना से जो कुछ करने में आवे, वह दुःख का और भवभ्रमण का कारण है; इसलिये मोक्षार्थी भव्यों का आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-अनुभव करके वीतरागता की भावना से शक्ति अनुसार व्रत-महाव्रत करना चाहिये।

जैसे किसी ने इष्ट स्थान जाने का सच्चा मार्ग जान लिया है, परन्तु चलने में थोड़ी देर लगती है, तो भी मार्ग में ही है। उसीप्रकार धर्मीजीव ने वीतरागता का मार्ग देखा है, राग रहित स्वभाव को जाना है; परन्तु सर्वथा राग दूर करने में थोड़ा समय लगता है, तो भी वह मोक्ष के मार्ग में ही है। परन्तु जिसने सच्चा मार्ग नहीं जाना और विपरीत मार्ग माना है, वह शुभराग करे तो भी संसार के मार्ग में है।

निश्चय से वीतरागमार्ग ही मोक्ष का साधन है शुभराग वास्तव में मोक्ष का साधन नहीं – ऐसा कहने पर किसी को बात न रुचे तो कहते हैं कि भाई! हम अन्य क्या बतावें? वीतरागदेव द्वारा कहा हुआ सत्य मार्ग यह ही है।

जिसप्रकार पद्मनन्दी स्वामी ब्रह्मचर्य-अष्टक में ब्रह्मचर्य का उत्तम वर्णन करके अन्त में कहते हैं कि "जो मुमुक्षु है, उसके लिये स्त्री-संग के

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

निषेध का उपदेश मैंने दिया है; परन्तु जो जीव भोगरूपी राग के सागर में डूबे हुये हैं, उन्हें इस ब्रह्मचर्य का उपदेश न रुचे तो वे मेरे पर क्रोध न करें; क्योंकि मैं तो मुनि हूँ, मुनि के पास तो यही वीतरागी उपदेश होता है, कोई राग के पोषण की बात मुनि के पास नहीं होती। "उसीप्रकार यहाँ मोक्ष के पुरुषार्थ में पुण्य का निषेध किया है, वहाँ राग की रुचिवाले किसी जीव को वह न रुचे तो क्षमा करना; क्योंकि सन्तों का उपदेश तो मोक्ष की प्रधानता का है, इसलिये उसमें राग को आदरणीय कैसे कहा जाय ? भाई ! अभी चाहे तुझे से सम्पूर्ण राग न छूट सके; परन्तु 'यह छोड़ने योग्य है' – ऐसा सच्चा ध्येय तो पहले ही ठीक कर, ध्येय सच्चा होगा तो वहाँ पहुँचेगा; परन्तु ध्येय ही खोटा रखोगे' रागका ध्येय रखोगे तो राग तोड़कर वीतरागता कहाँ से लाओगे ? अत: वीतरागी सन्तों ने सत्यमार्ग प्रसिद्ध किया है।

सर्वज्ञता को साधते-साधते वनविहारी सन्त पद्मनन्दी मुनिराज ने 'यह शास्त्र रचा है। वे आत्मा की शक्ति में जो पूर्ण आनन्द भरा है, उसकी प्रतीति करके उसमें लीन होकर बोलते थे। सिद्ध भगवान के साथ स्वानुभव द्वारा बातें करते थे और सिद्ध प्रभु जैसे अतीन्द्रिय-आनन्द का बहुत अनुभव करते थे, उन्होंने भव्यजीवों पर करुणा करके यह शास्त्र रचा है। इसमें कहते हैं कि अरे जीव ! सबसे पहले तू सर्वज्ञदेव को पहिचान। सर्वज्ञदेव को पहिचानते ही तेरी सच्ची जाति तुझे पहिचानने में आ सकेगी।

०००००

धर्म का मूल क्या ?

अरे जीव ! तू सर्वज्ञ की और ज्ञान की प्रतीति बिना धर्म क्या करेगा ? राग में स्थित रहकर सर्वज्ञ की प्रतीति नहीं होती; राग से जुदा पड़कर, ज्ञानरूप होकर, सर्वज्ञ की प्रतीति होती है। इसप्रकार ज्ञानस्वभाव के लक्षपूर्वक सर्वज्ञ की पहिचान करके उसके वचनानुसार धर्म की प्रवृत्ति होती है। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी के जो वचन हैं, वे हृदय में सर्वज्ञ-अनुसार हैं; क्योंकि उसके हृदय में सर्वज्ञदेव विराज रहे हैं। जिसके हृदय में सर्वज्ञ न हो अर्थात् सर्वज्ञ को जो न मानता हो, उसके धर्मवचन सच्चे नहीं होते। इसप्रकार सर्वज्ञ की पहिचान धर्म का मूल है।

– पूज्य श्री कानजी स्वामी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

श्रावकधर्म की आराधना का अंतिम फल

यत्कल्याणपरम्परार्पणपरं भव्यात्मना संसृतौ
पर्यन्ते यदनन्तसौख्यसदनं मोक्षं ददाति ध्रुवम्।
तज्जीयादतिदुर्लभं सुनरतामुख्यैर्गुणैः प्रापितं
श्रीमत्पंकजनंदिभिर्विरचितं देशव्रतोद्योतनम् ॥२७॥

सामान्यार्थ :– यह देशव्रत धर्मीजीव के लिए संसार में तो उत्तम कल्याण की परम्परा (चक्रवर्तीपद, इन्द्रपद, तीर्थंकरपद आदि) देनेवाला है और अन्त में अनन्तसुख के धाम मोक्ष को अवश्य देता है। श्री पद्मनन्दी मुनि ने जिसका वर्णन किया है तथा उत्तम दुर्लभ मनुष्यपने और सम्यग्दर्शनादि गुण के द्वारा जिसकी प्राप्ति होती है – ऐसे देशव्रत का उद्योतन (प्रकाश) जयवन्त रहे।

श्लोक २७ पर प्रवचन

इस देशव्रत-उद्योतन अधिकार में श्री पद्मनन्दी मुनिराज ने श्रावक के धर्म का बहुत वर्णन २६ गाथा में किया है। अब अंतिम गाथा में आशीर्वादपूर्वक अधिकार समाप्त करते हुए कहते हैं कि उत्तम कल्याण की परम्परापूर्वक मोक्षफल देनेवाला यह देशव्रत का प्रकाश जयवन्त रहे।

जो जीव धर्मी है, जिसे आत्मा का भान है, जो मोक्षमार्ग को साधना में तत्पर है; उसे अणुव्रत-महाव्रत के राग से ऐसा ऊँचा पुण्य बँधता है कि चक्रवर्तीपना, तीर्थंकरपना आदि लोकोत्तर पदवी मिल जाती है। पंचकल्याणक आदि की कल्याण परम्परा उसे प्राप्त होती है और अन्त में राग तोडकर वह मोक्ष पाता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

देखो यह मनुष्यपने की सफलता का उपाय ! जीवन में जिसने धर्म का उल्लास नहीं किया, आत्महित के लिए रागादि नहीं घटाये और मात्र विषय-भोग के पापभाव में ही जीवन बिताया है; वह तो निष्फल अवतार गँवाकर संसार में ही परिभ्रमण करता है। जबकि धर्मात्मा श्रावक तो आत्महित का उपाय करता है, सम्यग्दर्शन सहित व्रतादि का पालन करता है और स्वर्ग में जाकर वहाँ से मनुष्य होकर मनिपना लेकर मुक्ति प्राप्त करता है।

भाई ! ऐसा उत्तम मनुष्यपना और उसमें भी धर्मात्मा के संग का एसा योग संसार में बहुत दुर्लभ है, महाभाग्य से तुझे ऐसा सुयोग मिला है; तो इसमें सर्वज्ञ की पहिचान कर, सम्यक्त्वादि गुण प्रगट कर, उसके पश्चात् शक्ति-अनुसार व्रत अंगीकार कर और दान आदि कर। उस दान का तो बहुत प्रकार से उपदेश दिया। वहाँ कोई कहे कि आप दान की तो बात करते हो, परन्तु हमें आगे-पीछे का (स्त्री-पुत्रादि का) कोई विचार करना या नहीं ? तो आचार्य कहते हैं कि भाई ! तू तनिक धीरज धर। यदि तुझे आगे-पीछे का तेरा हित का सच्चा विचार हो तो अभी ही तू ममता घटा। वर्तमान में तू स्त्री-पुत्रादि के बहाने ममता में डूबा हुआ है और अपने भविष्य के हित का विचार नहीं करता। भविष्य में मैं मर जाऊँगा तो स्त्री-पुत्रादि का क्या होगा – इसप्रकार उनका विचार करता है, परन्तु भविष्य में तेरी आत्मा का क्या होगा – इसका विचार क्यों नहीं करता ?

अरे ! राग तोड़कर समाधि करने का समय आया, उसमें फिर आगे-पीछे का अन्य क्या विचार करना ? जगत के जीवों को संयोग-वियोग तो अपने-अपने उदय-अनुसार सबको हुआ करते हैं, ये कोई तेरे किये नहीं होते; इसलिए भाई ! दूसरे का नाम लेकर तू अपनी ममता को मत बढ़ा। चाहे लाखों-करोड़ों रुपयों की पूँजी हो, परन्तु जो दान नहीं करता तो वह हृदय का गरीब है। इसकी अपेक्षा तो थोड़ी पूंजीवाला भी जो धर्मप्रसंग में तन-मन-धन उल्लासपूर्वक लगाता है; वह उदार है, उसकी लक्ष्मी और उसका जीवन सफल है।

सरकारी टेक्स (कर) आदि में परतन्त्ररूप से देना पड़े, उसे दे; परन्तु जीव स्वयं ही धर्म के काम में होंशपूर्वक खर्च न करे तो आचार्यदेव कहते हैं कि भाई ! तुझे तेरी लक्ष्मी का सदुपयोग करना नहीं आता; तुझे देव-गुरु-धर्म की भक्ति करना नहीं आता और तुझे

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

श्रावकधर्म का पालन करना नहीं आता; श्रावक तो देव-गुरु-धर्म के लिये उल्लासपूर्वक दानादि करता है।

एक मनुष्य कहता है कि महाराज ! मुझे व्यापार में २५ लाख रुपये मिलनेवाले थे, परन्तु रुक गये। यदि वे मिल जायें तो उनमें से ५ लाख रुपये धर्मार्थ में देने का विचार था, इसलिये आशीर्वाद दीजिये।

अरे मूर्ख ! कैसा आशीर्वाद ? क्या तेरे लोभपोषण के लिये ज्ञानी तुझे आशीर्वाद दें ? ज्ञानी तो धर्म की आराधना का आशीर्वाद देते हैं। ५ लाख रुपये खर्च करने की बात करके वास्तव में तो तुझे २० लाख लेना है और इसकी ममता पोषनी है।

जैसे कोई माने कि प्रथम जहर खा लूँ, पीछे उसकी दवा करूँगा – तेरी ऐसी मूर्खता है। तुझे वास्तव में धर्म का प्रेम हो और राग घटाना हो तो अभी जो तेरे पास में है, उसमें से राग घटा न ? तुझे राग घटाकर दान करना हो तो कौन तुझे रोकता है ?

भाई ! ऐसा मनुष्यपना और ऐसा अवसर प्राप्तकर तू धन प्राप्त करने की तृष्णा के पाप में अपना जीवन नष्ट कर रहा है, इसके बदले धर्म की आराधना कर। धर्म की आराधना द्वारा ही मनुष्यभव की सफलता है। धर्म की आराधना के बीच पुण्यफलरूप बड़े-बड़े निधान सहज ही मिल जावेंगे, तुझे उनकी इच्छा नहीं करनी पड़ेगी, "माँगे उसके दूर और त्यागे उसके आगे"। पुण्य की इच्छा करता है, उसे पुण्य नहीं होता। माँगे उसके दूर जाता है और त्यागे उसके आगे अर्थात् जो पुण्य की रुचि छोड़कर चैतन्य को साधता है, उसको पुण्य का वैभव समक्ष आता है।

धर्मीजीव आत्मा का भान करके और पुण्य की अभिलाषा सर्वथा छोड़कर मोक्ष की तरफ चलने लगा है। उसने बहुत-सा रास्ता तय कर लिया है, थोड़ा शेष है। वहाँ पुरुषार्थ की मन्दता से शुभराग हुआ अर्थात् स्वर्गादि के एक या दो उत्तम भवरूपी धर्मशाला में थोड़े समय रुकता है। उसे ऐसा ऊँचा पुण्य होता है कि जहाँ जन्मता है; वहाँ समुद्र में से मोती पकते हैं, आकाश में से उत्कृष्ट रत्नरूप परिणमन कर रजकण बरसते हैं, पत्थर की खान में नीलमणि उत्पन्न होते हैं। यदि राजा हो जावे तो ऐसा कि उसे प्रजा से कर आदि लेना नहीं पड़ता; परन्तु प्रजा स्वयं चलकर देने आती है। संत मुनि धर्मात्माओं के समूह और

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तीर्थंकरदेव का संयोग मिलता है तथा संतों के सत्संग में पुनः आराधकभाव पुष्ट कर, राज-वैभव छोड़, मुनि होकर, केवलज्ञान प्रगट कर मोक्ष प्राप्त करता है।

सर्वज्ञदेव की पहिचानपूर्वक श्रावक ने जो धर्म की आराधना की, उसका यह उत्तम फल कहा है, वह जयवन्त हो और साधनेवाले साधक जगत में जयवन्त हों! – ऐसे आशीर्वाद सहित यह अधिकार समाप्त होता है।

०००००

सम्यग्दर्शन होने पर

सम्यग्दर्शन होने पर धर्मी को सिद्ध समान अपना शुद्ध आत्मा श्रद्धा-ज्ञान एवं स्वानुभव में स्पष्ट आ जाता है; तब से उसकी गति-परिणति विभावों से विमुख होकर सिद्धपद की ओर चलने लगी, वह मोक्षमार्गी हुआ। पश्चात् ज्यों-ज्यों शुद्धता और स्थिरता बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों श्रावकधर्म और मुनिधर्म प्रगट होता है। श्रावकपना तथा मुनिपना तो आत्मा की शुद्धदशा में रहते हैं, वह कोई बाहर की वस्तु नहीं है। जैनधर्म में तीर्थंकरदेव ने मोक्षमार्ग कैसा कहा है, उसकी खबर न हो और विपरीत मार्ग में जहाँ-तहाँ मस्तक झुकाता हो – ऐसे जीव को जैनत्व नहीं होता। जैन हुआ वह जिनवरदेव के मार्ग के सिवा अन्य को स्वप्न में भी नहीं मानता।

कोई कहे कि आत्मा एकान्त शुद्ध है और उसे विकार या कर्म का कोई सम्बन्ध है ही नहीं, तो वह बात यथार्थ नहीं है। आत्मा द्रव्यस्वभाव से शुद्ध है, परन्तु पर्याय में उसे विकार भी है, वह विकार अपनी भूल से है और स्वभाव की प्रतीति द्वारा वह दूर हो सकता है तथा शुद्धता हो सकती है। विकारभाव में अजीवकर्म निमित्त हैं, विकार टलने पर वे निमित्त भी छूट जाते हैं। इसप्रकार द्रव्य-पर्याय, शुद्धता-अशुद्धता, निमित्त – इन सबका ज्ञान बराबर करना चाहिये। उन्हें जानकर शुद्ध आत्मा की दृष्टि करनेवाला जीव सम्यग्दृष्टि है।

– पूज्य श्री कानजी स्वामी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

परिशिष्ट

स्वतन्त्रता की घोषणा

(नर्दटक छन्द)

ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयतः
स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत्।
न भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया
स्थितिरिह वस्तुनो भवतु कर्तृ तदेव ततः ॥२११॥

सामान्यार्थ :– वास्तव में परिणाम ही निश्चय से कर्म है और परिणाम अपने आश्रयभूत परिणामी का ही होता है, अन्य का नहीं (क्योंकि परिणाम अपने-अपने द्रव्य के आश्रित हैं, अन्य के परिणाम का अन्य आश्रय नहीं होता) और कर्म कर्त्ता के बिना नहीं होता तथा वस्तु की एकरूप (कूटस्थ) स्थिति नहीं होती (क्योंकि वस्तु द्रव्य-पर्यायस्वरूप होने से सर्वथा नित्यत्व बाधासहित है), इसलिए वस्तु स्वयं ही अपने परिणामरूप कर्म की कर्त्ता है।

समयसार कलश २११ पर प्रवचन

कर्त्ता-कर्म सम्बन्धी भेदज्ञान कराते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि वस्तु स्वयं अपने परिणाम की कर्त्ता है, अन्य के साथ उसका कर्त्ता-कर्म का सम्बन्ध नहीं है। इस सिद्धान्त को आचार्यदेव ने चार बोलों से स्पष्ट करके समझाया है :–

(१) परिणाम अर्थात् पर्याय ही कर्म है – कार्य है।

(२) परिणाम अपने आश्रयभूत परिणामी के ही होते हैं, अन्य के नहीं होते; क्योंकि परिणाम अपने-अपने आश्रयभूत परिणामी (द्रव्य) के आश्रय से होते हैं, अन्य का परिणाम अन्य के आश्रय से नहीं होता।

(३) कर्त्ता के बिना कर्म नहीं होता अर्थात् परिणाम वस्तु के बिना नहीं होता।

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

(४) वस्तु की निरन्तर एक समान स्थिति नहीं रहती, क्योंकि वस्तु द्रव्य-पर्यायस्वरूप है।

इसप्रकार आत्मा और जड़ सभी वस्तुएँ स्वयं ही अपने परिणामरूप कर्म की कर्त्ता हैं – ऐसा वस्तुस्वरूप का महान सिद्धान्त आचार्यदेव ने समझाया है।

देखो ! इसमें वस्तुस्वरूप को चार बोलों द्वारा समझाया है। इस जगत में छह वस्तुयें हैं:– आत्मा अनन्त, पुद्गलपरमाणु अनन्तानन्त, धर्म, अधर्म व आकाश एक-एक और काल असंख्यात। इन छहों प्रकार की वस्तुओं और उनके स्वरूप का वास्तविक नियम क्या है ? सिद्धान्त क्या है ? उसे यहाँ चार बोलों में समझाया जा रहा है।

(१) परिणाम ही कर्म है

'ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयतः' अर्थात् परिणामी वस्तु का जो परिणाम है, वही निश्चय से उसका कर्म है। कर्म अर्थात् कार्य; परिणाम अर्थात् अवस्था। पदार्थ की अवस्था ही वास्तव में उसका कर्म – कार्य है। परिणामी अर्थात् अखण्ड वस्तु; वह जिस भाव से परिणमन करे, उस भाव को परिणाम कहते हैं। परिणाम कहो, कार्य कहो, पर्याय कहो या कर्म कहो – ये सब शब्द वस्तु के परिणाम के पर्यायवाची ही हैं।

जैसे कि आत्मा ज्ञानगुणस्वरूप है; उसका परिणमन होने से जो जानने की पर्याय हुई, वह उसका कर्म है – वर्तमान कार्य है। राग या शरीर, वह कोई ज्ञान का कार्य नहीं; परन्तु 'यह राग है, यह शरीर है' – ऐसा उन्हें जाननेवाला जो ज्ञान है, वह आत्मा का कार्य है। आत्मा के परिणाम वह आत्मा का कार्य है और जड़ के परिणाम अर्थात् जड़ की अवस्था वह जड़ का कार्य है। इसप्रकार एक बोल पूर्ण हुआ।

(२) परिणाम वस्तु का ही होता है, दूसरे का नहीं

अब इस दूसरे बोल में कहते हैं कि जो परिणाम होता है, वह परिणामी पदार्थ का ही होता है; वह किसी अन्य के आश्रय से नहीं होता। जिसप्रकार सुनते समय जो ज्ञान होता है, वह कार्य है – कर्म है। यह ज्ञान किस का कार्य है ? वह ज्ञान शब्दों का कार्य नहीं है, परन्तु परिणामी वस्तु जो आत्मा है, उसी का वह कार्य है। परिणामी के बिना परिणाम नहीं होता।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आत्मा परिणामी है, उसके बिना ज्ञानपरिणाम नहीं होता – यह सिद्धान्त है। परन्तु वाणी के बिना ज्ञान नहीं होता – यह बात सच नहीं है। शब्दों के बिना ज्ञान नहीं होता – एसा नहीं, परन्तु आत्मा के बिना ज्ञान नहीं होता – ऐसा है। इसप्रकार परिणामी आत्मा के आश्रय से ही ज्ञानादि परिणाम हैं।

देखो ! यह महासिद्धान्त है, वस्तुस्वरूप का अबाधित नियम है।

परिणामी के आश्रय से ही उसके परिणाम होते हैं। जाननेवाला आत्मा, वह परिणामी है, उसके आश्रित ही ज्ञान होता है; वे ज्ञान-परिणाम आत्मा के हैं, वाणी के नहीं। ज्ञानपरिणाम वाणी के रजकणों के आश्रित नहीं होते, परन्तु ज्ञानस्वभावी आत्मवस्तु के आश्रय से होते हैं। आत्मा त्रिकाल स्थित रहनेवाला परिणामी है, वह स्वयं रूपांतरित होकर नवीन-नवीन अवस्थाओं को धारण करता है। ज्ञान-आनन्द इत्यादि जो उसके वर्तमानभाव हैं, वे उसके परिणाम हैं।

परिणाम परिणामी के ही हैं, अन्य के नहीं – इसमें जगत के सभी पदार्थों का नियम आ जाता है। परिणाम परिणामी के ही आश्रित होते हैं। ज्ञान परिणाम आत्मा के आश्रित हैं, भाषा आदि अन्य के आश्रित नहीं हैं; इसलिये इसमें पर की ओर देखना नहीं रहता, परन्तु अपनी-अपनी वस्तु के सामने देखकर स्वसन्मुख परिणमन करना रहता है, उसमें मोक्षमार्ग आ जाता है।

वाणी तो अनन्त जड़ परमाणुओं की अवस्था है, वह अपने जड़ परमाणुओं के आश्रित है। बोलने की जो इच्छा हुई, उस इच्छा के आश्रित भाषा के परिणाम तीनकाल में भी नहीं हैं। जब इच्छा हुई और भाषा निकली; उससमय उसका जो ज्ञान हुआ, वह ज्ञान आत्मा के आश्रय से ही हुआ है, भाषा के आश्रय से तथा इच्छा के आश्रय से ज्ञान नहीं हुआ है।

परिणाम अपने आश्रयभूत परिणामी के आश्रय ही होते हैं, अन्य के आश्रय से नहीं होते – इसप्रकार अस्ति-नास्ति से अनेकान्त द्वारा वस्तु-स्वरूप समझाया है। सत्य के सिद्धांत की अर्थात् वस्तु के सत्स्वरूप की यह बात है। अज्ञानी उसको पहिचाने बिना मूढ़तापूर्वक अज्ञानता में ही जीवन पूर्ण कर डालता है।

भाई ! आत्मा क्या है और जड़ क्या है, उनकी भिन्नता समझकर वस्तुस्वरूप के वास्तविक सत् को समझे बिना ज्ञान में सत्पना नहीं

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ज्ञाता अर्थात् सम्यग्ज्ञान नहीं होता, वस्तुस्वरूप के सत्यज्ञान के बिना सच्ची रुचि और श्रद्धा भी नहीं होती और सच्ची श्रद्धा के बिना वस्तु में स्थिरता-रूप चारित्र प्रगट नहीं होता, शान्ति नहीं होती, समाधान और सुख नहीं होता; इसलिये वस्तुस्वरूप क्या है? उसे प्रथम समझना चाहिये। वस्तुस्वरूप को समझने से मेरे परिणाम पर से और पर के परिणाम मुझ से होते हैं – ऐसी पराश्रितबुद्धि नहीं रहती अर्थात् स्वाश्रित स्वसन्मुख परिणाम प्रगट होता है, यही धर्म है।

आत्मा का जो ज्ञान होता है, उसको जाननेवाला परिणाम आत्मा के आश्रित है; वह परिणाम वाणी के आश्रय से नहीं होता है, कान के आश्रय से नहीं होता है तथा उससमय की इच्छा के आश्रय से भी नहीं होता है। यद्यपि इच्छा भी आत्मा का परिणाम है; परन्तु उस इच्छा-परिणाम के आश्रित ज्ञानपरिणाम नहीं है, ज्ञानपरिणाम आत्मवस्तु के आश्रित है; इसलिये वस्तु-सन्मुख दृष्टि कर।

बोलने की इच्छा हो, होंठ हिलें, भाषा निकले और उससमय उसप्रकार का ज्ञान हो – ऐसी चारों क्रियायें एक साथ होते हुये भी कोई क्रिया किसी के आश्रित नहीं, सभी अपने-अपने परिणामी के ही आश्रित हैं। जो इच्छा है, वह आत्मा के चारित्रगुण का परिणाम है; होंठ हिले, वह होंठ के रजकणों की अवस्था है, वह अवस्था इच्छा के आधार से नहीं हुई। भाषा प्रगट हो, वह भाषावर्गणा के रजकणों की अवस्था है, वह अवस्था इच्छा के आश्रित या होंठ के आश्रित नहीं हुई, परन्तु परिणामीरूप रजकणों के आश्रय से उत्पन्न हुई है और उससमय का ज्ञान आत्मवस्तु के आश्रित है, इच्छा अथवा भाषा के आश्रित नहीं है – ऐसा वस्तुस्वरूप है।

भाई! तीन काल तीन लोक में सर्वज्ञ भगवान का देखा हुआ यह वस्तुस्वभाव है; अज्ञानी उसे जाने बिना और समझने की परवाह किये बिना अन्धे की भाँति चला जाता है, परन्तु वस्तुस्वरूप के सच्चे ज्ञान के बिना किसीप्रकार कहीं भी कल्याण नहीं हो सकता। इस वस्तुस्वरूप का बारम्बार लक्ष्य में लेकर परिणामों से भेदज्ञान करने के लिए यह बात है। एक वस्तु के परिणाम अन्य वस्तु के आश्रित तो हैं नहीं, परन्तु उस वस्तु में भी उसके एक परिणाम के आश्रित दूसरे परिणाम नहीं हैं। परिणामी वस्तु के आश्रित ही परिणाम है – यह महान सिद्धान्त है।

प्रतिक्षण इच्छा, भाषा और ज्ञान – यह तीनों एक साथ होते हुए भी इच्छा और ज्ञान जीव के आश्रित हैं और भाषा जड़ के आश्रित हैं; इच्छा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

के कारण भाषा हुई और भाषा के कारण ज्ञान हुआ – ऐसा नहीं; उसीप्रकार इच्छा के आश्रित भी ज्ञान नहीं। इच्छा और ज्ञान – ये दोनों आत्मा के परिणाम हैं, तथापि एक के आश्रित दूसरे के परिणाम नहीं हैं। ज्ञान परिणाम और इच्छा परिणाम दोनों भिन्न-भिन्न हैं। जो ज्ञान हुआ, वह इच्छा का कार्य नहीं है और जो इच्छा हुई, वह ज्ञान का कार्य नहीं है। जहाँ इच्छा भी ज्ञान का कार्य नहीं, वहाँ जड़भाषा आदि उसके कार्य कहाँ से हो सकते हैं? वे तो जड़ के कार्य हैं।

जगत में जो भी कार्य होते हैं, वे सत् की अवस्थायें हैं; किसी वस्तु के ही परिणाम होते हैं, परन्तु वस्तु के बिना अधर से नहीं होते। परिणामी का परिणाम होता है, नित्य स्थित वस्तु के आश्रित परिणाम होते हैं, पर के आश्रित नहीं होते।

परमाणु में होंठों का हिलना और भाषा का परिणमन – ये दोनों भी भिन्न वस्तुएँ हैं। आत्मा में इच्छा और ज्ञान – ये दोनों परिणाम भी भिन्न-भिन्न हैं।

होंठ हिलने के आश्रित भाषा की पर्याय नहीं है। होंठ का हिलना, वह होंठ के पुद्गलों के आश्रित है; भाषा का परिणमन, वह भाषा के पुद्गलों के आश्रित है। होंठ और भाषा, इच्छा और ज्ञान – इन चारों का काल एक होने पर भी चारों परिणाम अलग हैं।

उसमें भी इच्छा और ज्ञान – ये दोनों परिणाम आत्माश्रित होने पर भी इच्छा परिणाम के आश्रित ज्ञान परिणाम नहीं हैं। ज्ञान, वह आत्मा का परिणाम है, इच्छा का नहीं; इसीप्रकार इच्छा, वह आत्मा का परिणाम है, ज्ञान का नहीं। इच्छा को जाननेवाला ज्ञान, वह इच्छा का कार्य नहीं है; उसीप्रकार वह ज्ञान इच्छा को उत्पन्न भी नहीं करता। इच्छा-परिणाम आत्मा का कार्य अवश्य है; परन्तु ज्ञान का कार्य नहीं। भिन्न-भिन्न गुण के परिणाम भिन्न-भिन्न हैं, एक ही द्रव्य में होने पर भी एक गुण के आश्रित दूसरे गुण के परिणाम नहीं हैं।

अहो! कितनी स्वतंत्रता!! इसमें पर के आश्रय की बात ही कहाँ रही?

आत्मा में चारित्रगुण इत्यादि अनन्तगुण हैं। उनमें चारित्र का विकृत परिणाम इच्छा है, वह चारित्रगुण के आश्रित है; और उससमय इच्छा का ज्ञान हुआ, वह ज्ञानगुणरूप परिणामी का परिणाम है, वह कहीं इच्छा के परिणाम के आश्रित नहीं है। इसप्रकार इच्छापरिणाम

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

और ज्ञानपरिणाम – दोनों का भिन्न-भिन्न परिणमन हैं, एक-दूसरे के आश्रित नहीं है।

सत् जैसा है, उसीप्रकार उसका ज्ञान करे तो सत् ज्ञान हो और सत् का ज्ञान करे तो उसका बहुमान एवं यथार्थ का आदर प्रगट हो, रुचि हो, श्रद्धा दृढ़ हो और उसमें स्थिरता हो; उसे ही धर्म कहा जाता है। सत् से विपरीत ज्ञान करे, उसे धर्म नहीं होता। स्व में स्थिरता ही मूल धर्म है, परन्तु वस्तुस्वरूप के सच्चे ज्ञान बिना स्थिरता कहाँ करेगा ?

आत्मा और शरीरादि रजकण भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं; शरीर की अवस्था, हलन-चलन, बोलना – ये सब परिणामी पुद्गलों के परिणाम हैं; उन पुद्गलों के आश्रय से वे परिणाम उत्पन्न हुए हैं, इच्छा के आश्रित नहीं; उसीप्रकार इच्छा के आश्रित ज्ञान भी नहीं है। पुद्गल के परिणाम आत्मा के आश्रित मानना और आत्मा के परिणाम पुद्गलाश्रित मानना, इसमें तो विपरीत मान्यतारूप मूढ़ता है।

जगत में भी जो वस्तु जैसी हो, उससे विपरीत बतलानेवाले को लोग मूर्ख कहते हैं तो फिर सर्वज्ञकथित यह लोकोत्तर वस्तुस्वभाव जैसा है, वैसा न मानकर विरुद्ध माने तो लोकोत्तर मूर्ख और अविवेकी ही है। विवेकी और विलक्षण कब कहा जाय ? जबकि वस्तु के जो परिणाम हुए, उसे कार्य मानकर, उसे परिणामी – वस्तु के आश्रित समझे और दूसरे के आश्रित न माने, तब स्व-पर का भेदज्ञान होता है और तभी विवेकी है – ऐसा कहने में आता है। आत्मा के परिणाम पर के आश्रित नहीं होते। विकारी और अविकारी जितने भी परिणाम जिस वस्तु के हैं; वे उस वस्तु के आश्रित हैं, अन्य के आश्रित नहीं।

पदार्थ के परिणाम, वे उसी पदार्थ के कार्य हैं – यह एक बात। दूसरी बात यह कि वे परिणाम उसी पदार्थ के आश्रय से होते हैं, अन्य के आश्रय से नहीं होते – यह नियम जगत के समस्त पदार्थों में लागू होता है।

देखो भाई ! यह तो भेदज्ञान के लिये वस्तुस्वभाव के नियम बतलाये गये। अब धीरे-धीरे दृष्टांत से युक्ति से वस्तुस्वरूप सिद्ध किया जाता है।

किसी को ऐसे भाव उत्पन्न हुए कि सौ रुपये दान में दूँ, उसका वह परिणाम आत्मवस्तु के आश्रित हुआ है; वहाँ तो रुपये जाने की जो

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

क्रिया होती है, वह रुपये के रजकणों के आश्रित है, जीव की इच्छा के आश्रित नहीं। अब उससमय उन रुपयों की क्रिया का ज्ञान अथवा इच्छा के भाव का ज्ञान होता है, वह ज्ञानपरिणाम आत्माश्रित होता है। इस प्रकार परिणामों का विभाजन करके वस्तुस्वरूप का ज्ञान करना चाहिये।

भाई! तेरा ज्ञान और तेरी इच्छा – ये दोनों परिणाम आत्मा में होते हुए भी जब एक-दूसरे के आश्रित नहीं हैं, तो फिर पर के आश्रय की तो बात ही कहाँ रही? दान की इच्छा हुई और रुपये दिये गये; वहाँ रुपये जाने की क्रिया भी हाथ के आश्रित नहीं, हाथ का हिलना इच्छा के आश्रित नहीं और इच्छा का परिणमन, वह ज्ञान के आश्रित नहीं है। सभी अपने-अपने आश्रयभूत वस्तु के आधार से हैं।

देखो! यह सर्वज्ञ के पदार्थ-विज्ञान का पाठ है – ऐसे वस्तुस्वरूप का ज्ञान सच्चा पदार्थ-विज्ञान है। जगत के पदार्थों का स्वभाव ही ऐसा है कि वे सदा एकरूप नहीं रहते, परन्तु परिणमन करके नवीन-नवीन अवस्थारूप कार्य किया करते हैं – यह बात चौथे बोल में कही जायगी। जगत् के पदार्थों का स्वभाव ऐसा है कि वे नित्य स्थायी रहें और उनमें प्रतिक्षण नवीन-नवीन अवस्थारूप कार्य उनके अपने ही आश्रित हुआ करें। वस्तुस्वभाव का ऐसा ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है।

- जीव को इच्छा हुई, इसलिये हाथ हिला और सौ रुपये दिये गये – ऐसा नहीं है।
- इच्छा का आधार आत्मा है, हाथ और रुपयों का आधार परमाणु है।
- रुपयों के ज्ञान से इच्छा हुई – ऐसा भी नहीं है।
- हाथ का हलन-चलन, वह हाथ के परमाणुओं के आधार से है।
- रुपयों का आना-जाना, वह रुपयों के परमाणुओं के आधार से है।
- इच्छा का होना, वह आत्मा के चारित्रगुण के आधार से है।

यह तो भिन्न-भिन्न द्रव्य के परिणाम की भिन्नता की बात हुई; यहाँ तो उससे भी आगे अन्दर की बात लेना है। एक ही द्रव्य के अनेक परिणाम भी एक-दूसरे के आश्रित नहीं हैं – ऐसा बतलाना है। राग और ज्ञान दोनों के कार्य भिन्न हैं, एक-दूसरे के आश्रित नहीं हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

किसी ने गाली दी और जीव को द्वेष के पाप-परिणाम हुए; वहाँ वे पाप के परिणाम प्रतिकूलता के कारण नहीं हुए और गाली देनेवाले के आश्रित भी नहीं हुए; परन्तु चारित्रगुण के आश्रित हुए हैं; चारित्रगुण ने उससमय उस परिणाम के अनुसार परिणमन किया है। अन्य तो निमित्तमात्र हैं।

अब द्वेष के समय उसका ज्ञान हुआ कि 'मुझे यह द्वेष हुआ' – यह ज्ञानपरिणाम ज्ञानगुण के आश्रित है, क्रोध के आश्रित नहीं है। ज्ञान-स्वभावी द्रव्य के आश्रित ज्ञानपरिणाम होते हैं, अन्य के आश्रित नहीं होते। इसीप्रकार सम्यग्दर्शन परिणाम, सम्यग्ज्ञान परिणाम, आनन्द परिणाम इत्यादि में भी ऐसा ही समझना। यह ज्ञानादि परिणाम द्रव्य के आश्रित हैं, अन्य के आश्रित नहीं हैं तथा परस्पर एक-दूसरे के आश्रित भी नहीं हैं।

गाली के शब्द अथवा द्वेष के समय उसका जो ज्ञान हुआ, वह ज्ञान शब्दों के आश्रित नहीं है और क्रोध के आश्रित भी नहीं है, उसका आधार तो ज्ञानस्वभावी वस्तु है – इसलिये उनके ऊपर दृष्टि लगा तो तेरी पर्याय में मोक्षमार्ग प्रगट हो। इस मोक्षमार्गरूपी कार्य का कर्त्ता भी तू ही है, अन्य कोई नहीं।

अहो! यह तो सुगम और स्पष्ट बात है। लौकिक पढ़ाई अधिक न की हो, तथापि यह समझ में आ जाये – ऐसा है। जरा अन्तर में उतर कर लक्ष में लेना चाहिये कि आत्मा अस्तिरूप है, उसमें ज्ञान है, आनन्द है, श्रद्धा है, अस्तित्व है – इसप्रकार अनन्तगुण हैं। इन अनन्तगुणों के भिन्न-भिन्न अनन्त परिणाम प्रतिसमय होते हैं, उन सभी का आधार परिणामी – ऐसा आत्मद्रव्य है, अन्य वस्तु तो उनका आधार नहीं है; परन्तु अपने में दूसरे गुणों के परिणाम भी उनका आधार नहीं है। जैसे कि श्रद्धा परिणाम का आधार ज्ञान परिणाम नहीं है और ज्ञान परिणाम का आधार श्रद्धा परिणाम नहीं है; दोनों परणामों का आधार आत्मा ही है। इसीप्रकार सर्व गुणों के परिणामों के लिये समझना। इसप्रकार परिणामी परिणाम का ही है, अन्य का नहीं।

इस २११ वें कलश में आचार्यदेव द्वारा कहे गये वस्तुस्वरूप के चार बोलों में से अभी दूसरे बोल का विवेचन चल रहा है। प्रथम तो कहा कि 'परणाम एव किल कर्म' और फिर कहा कि 'स भवति

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

परिणामिन एव, न अपरस्य भवेत्' परिणाम ही कर्म है और वह परिणामी का ही होता है, अन्य का नहीं – ऐसा निर्णय करके स्वद्रव्यसन्मुख लक्ष्य जाने से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है।

सम्यग्ज्ञान व सम्यग्दर्शन परिणाम हुआ, वह आत्मा का कर्म है, वह आत्मारूप परिणामी के आधार से हुआ है। पूर्व के मन्दराग के आश्रय से अथवा वर्तमान में शुभराग के आश्रय से सम्यग्दर्शन या सम्यग्ज्ञान के परिणाम नहीं होते। यद्यपि राग भी है तो आत्मा का परिणाम, परन्तु श्रद्धा परिणाम से राग परिणाम अन्य हैं, वे श्रद्धा के परिणाम राग के आश्रित नहीं हैं, क्योंकि परिणाम परिणामी के ही आश्रय से होते हैं, अन्य के आश्रय से नहीं होते।

उसीप्रकार चारित्र परिणाम में – आत्मस्वरूप में स्थिरता, वह चारित्र का कार्य है; वह कार्य श्रद्धा परिणाम के आश्रित नहीं, ज्ञान परिणाम के आश्रित नहीं, परन्तु चारित्रगुण धारण करनेवाले आत्मा के ही आश्रित है। शरीरादि के आश्रय से चारित्र परिणाम नहीं हैं।

श्रद्धा के परिणाम आत्मद्रव्य के आश्रित हैं।
ज्ञान के परिणाम आत्मद्रव्य के आश्रित हैं।
स्थिरता के परिणाम आत्मद्रव्य के आश्रित हैं।
आनन्द के परिणाम आत्मद्रव्य के आश्रित हैं।

बस, मोक्षमार्ग के सभी परिणाम स्वद्रव्याश्रित हैं, अन्य के आश्रित नहीं हैं; उससमय अन्य (रागादि) परिणाम होते हैं, उनके आश्रित भी ये परिणाम नहीं हैं। एक समय में श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र इत्यादि अनन्त गुणों के परिणाम होते हैं, वे धर्म हैं, उनका आधार धर्मी अर्थात् परिणमित होनेवाली वस्तु है; उससमय अन्य जो अनेक परिणाम होते हैं, उनके आधार से श्रद्धा इत्यादि के परिणाम नहीं हैं। निमित्तादि के आधार से तो नहीं हैं, परन्तु अपने दूसरे परिणाम के आधार से भी कोई परिणाम नहीं है। एक ही द्रव्य में एकसाथ होनेवाले परिणामों में भी एक परिणाम दूसरे परिणाम के आश्रित नहीं; द्रव्य के ही आश्रित सभी परिणाम हैं, सभी परिणामरूप से परिणमन करनेवाला 'द्रव्य' ही है अर्थात् द्रव्यसन्मुख लक्ष्य जाते ही सम्यक्-पर्यायें प्रगट होने लगती हैं।

वाह! देखो, आचार्यदेव की शैली थोड़े में बहुत समा देने की है। चार बोलों के इस महान् सिद्धांत में वस्तुस्वरूप के बहुत से नियमों का

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

समावेश हो जाता है। यह त्रिकालसत्य सर्वज्ञ द्वारा निश्चित किया हुआ सिद्धांत है।

अहो! यह परिणामी के परिणाम की स्वाधीनता सर्वज्ञदेव द्वारा कहा हुआ वस्तुस्वरूप का तत्त्व है। सन्तों ने इसका विस्तार करके आश्चर्यकारी कार्य किया है, पदार्थ का पृथक्करण करके भेदज्ञान कराया है। अन्तर में इसका मन्थन करके देख, तो मालूम हो कि अनन्त सर्वज्ञों तथा सन्तों ने ऐसा ही वस्तुस्वरूप कहा है और ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है।

सर्वज्ञ भगवन्त दिव्यध्वनि द्वारा ऐसा तत्त्व कहते आये हैं – ऐसा व्यवहार से कहा जाता है; किन्तु दिव्यध्वनि तो परमाणुओं के आश्रित है।

कोई कहे कि अरे, दिव्यध्वनि भी परमाणु-आश्रित है? हाँ, दिव्यध्वनि वह पुद्गल का परिणाम है और पुद्गल-परिणाम का आधार तो पुद्गलद्रव्य ही होता है, जीव उसका आधार नहीं हो सकता। भगवान का आत्मा तो अपने केवलज्ञानादि का आधार है। भगवान का आत्मा तो केवलज्ञान-दर्शन-सुख इत्यादि निज-परिणामरूप परिणमन करता है, परन्तु कहीं देह और वाणीरूप अवस्था धारण करके परिणमित नहीं होता, उस रूप तो पुद्गल ही परिणमित होता है। परिणाम परिणामी के ही होते हैं, अन्य के नहीं।

भगवान की सर्वज्ञता के आधार से दिव्यध्वनि के परिणाम हुये – ऐसा वस्तुस्वरूप नहीं है। भाषारूप परिणाम अनन्त पुद्गलाश्रित है और सर्वज्ञता आदि परिणाम जीवाश्रित है; इसप्रकार दोनों की भिन्नता है। कोई किसी का कर्त्ता या आधार नहीं है।

देखो! यह भगवान आत्मा की अपनी बात है। समझ में नहीं आयेगा – ऐसा नहीं मानना; अन्तरलक्ष्य करे तो समझ में आये – ऐसी सरल है। देखो, लक्ष्य में लो कि अन्दर कोई वस्तु है या नहीं? और यह जो जानने के या रागादि के भाव होते हैं – इन भावों का कर्त्ता कौन है? आत्मा स्वयं उनका कर्त्ता है। इसप्रकार आत्मा को लक्ष्य में लेने के लिये दूसरी पढ़ाई की कहाँ आवश्यकता है? दुनियाँ की बेगार करके दुःखी होता है, उसके बदले वस्तुस्वभाव को समझे तो कल्याण हो जाये। अरे जीव! ऐसे सुन्दर न्याय द्वारा सन्तों ने वस्तुस्वरूप समझाया है, उसे तू समझ!

इसप्रकार वस्तुस्वरूप के दो बोल हुये।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

अब तीसरा बोल :—

(३) कर्त्ता के बिना कर्म नहीं होता

कर्त्ता अर्थात् परिणमित होनेवाली वस्तु और कर्म अर्थात् उसकी अवस्थारूप कार्य; कर्त्ता के बिना कर्म नहीं होता अर्थात् वस्तु के बिना पर्याय नहीं होती, सर्वथा शून्य में से कोई कार्य उत्पन्न हो जाये — ऐसा नहीं होता।

देखो! यह वस्तुविज्ञान के महान सिद्धांत हैं, इस २११वें कलश में चार बोलों द्वारा चारों पक्षों से स्वतन्त्रता सिद्ध की है। अज्ञानी विदेशों में अज्ञान की पढ़ाई के पीछे हैरान होते हैं, उसकी अपेक्षा सर्वज्ञदेवकथित इस परमसत्य वीतरागी विज्ञान को समझे तो अपूर्व कल्याण हो।

(१) परिणाम सो कर्म, — यह एक बात।

(२) वह परिणाम किसका? कि परिणामी वस्तु का परिणाम है, दूसरे का नहीं। यह दूसरा बोल, इसका बहुत विस्तार किया।

यहाँ इस तीसरे बोल में कहते हैं कि — परिणामी के बिना परिणाम नहीं होता। परिणामी वस्तु से भिन्न अन्यत्र कहीं परिणाम हो — ऐसा नहीं होता। परिणामी वस्तु में ही उसके परिणाम होते हैं, इसलिये परिणामी वस्तु वह कर्त्ता है; उसके बिना कार्य नहीं होता। देखो, इसमें निमित्त के बिना नहीं होता — ऐसा नहीं कहा। निमित्त निमित्त में रहता है, वह कहीं इस कार्य में नहीं आ जाता, इसलिये निमित्त के बिना कार्य होता है, परन्तु परिणामी के बिना कार्य नहीं होता। निमित्त भले हो परन्तु उसका अस्तित्व तो निमित्त में है इसमें (कार्य में) उसका अस्तित्व नहीं है। परिणामी वस्तु की सत्ता में ही उसका कार्य होता है।

आत्मा के बिना सम्यक्त्वादि परिणाम नहीं होते। अपने समस्त परिणामों का कर्त्ता आत्मा है, उसके बिना कर्म नहीं होता। 'कर्म कर्तृ-शून्यं न भवति' — प्रत्येक पदार्थ की अवस्था उस-उस पदार्थ के बिना नहीं होती। सोना नहीं है और गहने बन गये, वस्तु नहीं है और अवस्था हो गई — ऐसा नहीं हो सकता। अवस्था है, वह त्रैकालिक वस्तु को प्रगट करती है — प्रसिद्ध करती है कि यह अवस्था इस वस्तु की है।

जैसे कि जड़कर्मरूप पुद्गल होते हैं, वे कर्मपरिणाम कर्त्ता के बिना नहीं होते। अब उनका कर्त्ता कौन? — तो कहते हैं कि उस पुद्गलकर्मरूप परिणमित होनेवाले रजकण ही कर्त्ता हैं; आत्मा उनका कर्त्ता नहीं है।

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

- आत्मा कर्त्ता होकर जड़कर्म का बन्ध करे – ऐसा वस्तुस्वरूप में नहीं है।
- जड़कर्म आत्मा को विकार करायें – ऐसा वस्तुस्वरूप में नहीं है।
- मन्दकषाय के परिणाम सम्यक्त्व का आधार हों – ऐसा वस्तुस्वरूप में नहीं है।
- शुभराग से क्षायिकसम्यक्त्व हो – ऐसा वस्तुस्वरूप में नहीं है।

तथापि अज्ञानी ऐसा मानता है कि यह सब तो विपरीत है, अन्याय है। भाई ! तेरे यह अन्यांय वस्तुस्वरूप को सहन नहीं होंगे। वस्तुस्वरूप को विपरीत मानने से तेरे आत्मा को बहुत दुःख होगा – ऐसी करुणा सन्तों को आती है। सन्त नहीं चाहते कि कोई जीव दुःखी हो। जगत के सारे जीव सत्य स्वरूप को समझें और दुःख से छूटकर सुख प्राप्त करें – ऐसी उनकी भावना है।

भाई ! तेरे सम्यग्दर्शन का आधार तेरा आत्मद्रव्य है। शुभराग कहीं उसका आधार नहीं है। मन्दराग वह कर्त्ता और सम्यग्दर्शन उसका कार्य – ऐसा त्रिकाल में नहीं है। वस्तु का जो स्वरूप है, वह तीन काल में आगे-पीछे नहीं हो सकता। कोइ जीव अज्ञान से उसे विपरीत माने, उससे कहीं सत्य बदल नहीं जाता। कोई समझे या न समझे, सत्य तो सदा सत्यरूप ही रहेगा, वह कभी बदलेगा नहीं। जो उसे यथावत् समझेंगे, वे अपना कल्याण कर लेंगे और जो नहीं समझेंगे, उनकी तो बात ही क्या ? व तो संसार में भटक ही रहे हैं।

'देखो, वाणी सुनी, इसलिये ज्ञान होता है न परन्तु सोनगढ़वाले इन्कार करते हैं कि वाणी के आधार से ज्ञान नहीं होता – ऐसा कहकर कुछ लोग कटाक्ष करते हैं; लेकिन भाई ! यह तो वस्तुस्वरूप है, त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ परमात्मा भी दिव्यध्वनि में यही कहते हैं कि ज्ञान आत्मा के आश्रय से होता है, ज्ञान वह आत्मा का कार्य है, दिव्यध्वनि के परमाणु का कार्य नहीं है। ज्ञान कार्य का कर्त्ता आत्मा है, न कि वाणी के रजकण। जिस पदार्थ के जिस गुण का जो वर्तमान होता है, वह अन्य पदार्थ के या अन्य गुण के आश्रय से नहीं होता, उसका कर्त्ता कौन ? तो कहते हैं कि वस्तु स्वयं। कर्त्ता और उसका कार्य दोनों एक ही वस्तु में होने का नियम है, वे भिन्न वस्तु में नहीं होते।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

यह लकडी ऊपर उठी वो कार्य है; यह किसका कार्य है ? कर्त्ता का कार्य है; कर्त्ता के बिना कार्य नहीं होता। कर्त्ता कौन है ? कि लकड़ी के रजकण ही लकडी की इस अवस्था के कर्त्ता हैं; यह हाथ, अँगुली या इच्छा उसके कर्त्ता नहीं हैं।

अब अन्तर का सूक्ष्म दृष्टान्त लें तो किसी आत्मा में इच्छा और सम्यग्ज्ञान दोनों परिणाम वर्तते हैं; वहाँ इच्छा के आधार से सम्यग्ज्ञान नहीं है। इच्छा सम्यग्ज्ञान का कर्त्ता नहीं है। आत्मा ही कर्त्ता होकर उस कार्य को करता है। कर्त्ता के बिना कर्म नहीं है और दूसरा कोई कर्त्ता नहीं है; इसलिये जीव कर्त्ता द्वारा ज्ञानकार्य होता है। इसप्रकार समस्त पदार्थों के सर्व कार्यों में सर्व पदार्थ का कर्त्तापना है – ऐसा समझना चाहिये।

देखो भाई, यह तो सर्वज्ञ भगवान के घर की बात है; उसे सुनकर सन्तुष्ट होना चाहिये। अहा ! सन्तों ने वस्तुस्वरूप समझाकर मार्ग स्पष्ट कर दिया है; सन्तों ने सारा मार्ग सरल और सुगम बना दिया है, उसमें बीच में कहीं अटकना पड़े – ऐसा नहीं है। पर से भिन्न ऐसा स्पष्ट वस्तुस्वरूप समझे तो मोक्ष हो जाये। बाहर से तथा अन्तर से ऐसा भेदज्ञान समझने पर मोक्ष हथेली में आ जाता है। मैं तो पर से पृथक् हूँ और मुझ में एक गुण का कार्य दूसरे गुण से नहीं है – यह महान सिद्धान्त समझने पर स्वाश्रयभाव से अपूर्व कल्याण प्रगट होता है।

कर्म अपने कर्त्ता के बिना नहीं होता – यह बात तीसरे बोल में कही और चौथे बोल में कर्त्ता की (वस्तु की) स्थिति एकरूप अर्थात् सदा एकसमान नहीं होती, परन्तु वह नये-नये परिणामरूप से बदलती रहती है – यह बात कहेंगे। हर बार प्रवचन में इन थौथे बोल का विशेष विस्तार होता है; इस बार दूसरे बोल का विशेष विस्तार आया है।

कर्त्ता के बिना कार्य नहीं होता – यह सिद्धान्त है; वहाँ कोई कहे कि यह जगत सो कार्य है और ईश्वर उसका कर्त्ता है, तो यह बात वस्तुस्वरूप की नहीं है। प्रत्येक वस्तु स्वयं ही अपने पर्याय का ईश्वर है और वही कर्त्ता है, उससे भिन्न दूसरा कोई या अन्य कोई पदार्थ कर्त्ता नहीं है। पर्याय सो कार्य और पदार्थ उसका कर्त्ता कर्त्ता के बिना कार्य नहीं और दूसरा कोई कर्त्ता नहीं।

कोई भी अवस्था हो – शुद्ध अवस्था, विकारी अवस्था या जड़ अवस्था; उसका कर्त्ता न हो ऐसा नहीं होता तथा दूसरा कोई कर्त्ता हो – ऐसा भी नहीं होता।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

–तो क्या भगवान उसके कर्त्ता हैं ?

हाँ, भगवान कर्त्ता अवश्य हैं; परन्तु कौन भगवान है अन्य कोई भगवान नहीं; परन्तु यह आत्मा स्वयं अपना भगवान है, वह कर्त्ता होकर अपने शुद्ध-अशुद्ध परिणामों को करता है। जड़ के परिणाम को जड़ पदार्थ करता है; वह अपना भगवान है। प्रत्येक वस्तु अपनी-अपनी अवस्था की रचयिता – ईश्वर है। स्व का स्वामी है, पर का स्वामी मानना मिथ्यात्व है।

संयोग के बिना अवस्था नहीं होती – ऐसी नहीं है; परन्तु वस्तु परिणमित हुये बिना अवस्था नहीं होती – ऐसा सिद्धान्त है। पर्याय के कर्तृत्व का अधिकार वस्तु का अपना है, उसमें पर का अधिकार नहीं है।

इच्छारूपी कार्य हुआ, उसका कर्त्ता आत्मद्रव्य है।

उससमय उसका ज्ञान हुआ, उस ज्ञान का कर्त्ता आत्मद्रव्य है।

पूर्व पर्याय में तीव्र राग था, इसलिये वर्तमान में राग हुआ – इसप्रकार पूर्व पर्याय में इस पर्याय का कर्त्तापना नहीं है। वर्तमान में आत्मा वैसे भावरूप परिणमित होकर स्वयं कर्त्ता हुआ है। इसीप्रकार ज्ञान परिणाम, श्रद्धा परिणाम, आनन्द परिणाम उन सबका कर्त्ता आत्मा है, पर नहीं। पूर्व के परिणाम भी कर्त्ता नहीं तथा वर्तमान में उसके साथ वर्तते हुए अन्य परिणाम भी कर्त्ता नहीं हैं – आत्मद्रव्य स्वयं कर्त्ता है। शास्त्र में पूर्व पर्याय कभी-कभी उपादान कहते हैं, वह तो पूर्व-पश्चात् की संधि बतलाने के लिये कहा है; परन्तु पर्याय को कर्त्ता तो उससमय वर्तता हुआ द्रव्य है, वही परिणामी होकर कार्यरूप परिणमित हुआ है। जिससमय सम्यग्दर्शनपर्याय हुई, उससमय उसका कर्त्ता आत्मा ही है। पूर्व की इच्छा, वीतराग की वाणी या शास्त्र – वे कोई वास्तव में इस सम्यग्दर्शन के कर्त्ता नहीं हैं।

उसीप्रकार ज्ञानकार्य का कर्त्ता भी आत्मा ही है। इच्छा का ज्ञान हुआ, वहाँ वह ज्ञान कहीं इच्छा का कार्य नहीं है और वह इच्छा ज्ञान का कार्य नहीं है। दोनों परिणाम एक ही वस्तु के होने पर भी उनमें कर्त्ता-कर्मपना नहीं है, कर्त्ता तो परिणामी वस्तु है।

पुद्गल में खट्टी-खारी अवस्था थी और ज्ञान ने तदनुसार जाना; वहाँ खट्टे-खारे तो पुद्गल के परिणाम हैं और पुद्गल उनका कर्त्ता है; तत्सम्बन्धी जो ज्ञान हुआ, उसका कर्त्ता आत्मा है, उस ज्ञान का कर्त्ता वह खट्टी-खारी अवस्था नहीं है। कितनी स्वतंत्रता। उसीप्रकार शरीर में

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

रोगादि जो कार्य हो, उसके कर्त्ता वे पुद्गल हैं, आत्म नहीं और उस शरीर की अवस्था का जो ज्ञान हुआ, उसका कर्त्ता आत्मा है। आत्मा कर्त्ता होकर ज्ञानपरिणाम को करता है, परन्तु शरीर की अवस्था को वह नहीं करता।

यह तो परमेश्वर होने के लिये परमेश्वर के घर की बात है। परमेश्वर सर्वज्ञदेवकथित यह वस्तुस्वरूप है।

जगत में चेतन या जड़ अनंत पदार्थ अनंतरूप से नित्य रहकर अपने वर्तमान कार्य को करते हैं; प्रत्येक परमाणु में स्पर्श-रंग आदि अनंत गुण; स्पर्श की चिकनी आदि अवस्था; रंग की काली आदि अवस्था उस-उस अवस्था का कर्त्ता परमाणुद्रव्य है; चिकनी अवस्था, वह काली अवस्था की कर्त्ता नहीं है।

इसप्रकार आत्मा में – प्रत्येक आत्मा में अनन्त गुण हैं। ज्ञान में केवलज्ञान पर्यायरूप कार्य हुआ, आनन्द प्रगट हुआ, उसका कर्त्ता आत्मा स्वयं है। मनुष्य शरीर अथवा स्वस्थ शरीर के कारण वह कार्य हुआ – ऐसा नहीं है; पूर्व की मोक्षमार्ग पर्याय के आधार से वह कार्य हुआ – ऐसा भी नहीं है; ज्ञान और आनन्द के परिणाम भी एक-दूसरे के आश्रित नहीं हैं; द्रव्य ही परिणमित होकर उस कार्य का कर्त्ता हुआ है। भगवान आत्मा स्वयं ही उपने केवलज्ञानादि कार्य का कर्त्ता है, अन्य कोई नहीं। यह तीसरा बोल हुआ।

(४) वस्तु की स्थिति सदा एकरूप (कूटस्थ) नहीं रहती

सर्वज्ञदेव द्वारा देखा हुआ वस्तु का स्वरूप ऐसा है कि वह नित्य अवस्थित रहकर प्रतिक्षण नवीन अवस्थारूप परिणमित होता रहता है। पर्याय बदले बिना ज्यों का त्यों कूटस्थ ही रहे – ऐसा वस्तु का स्वरूप नहीं है। वस्तुत द्रव्य-पर्याय स्वरूप है, इसलिये उसमें सर्वथा अकेला नित्यपना नहीं है, पर्याय से परिवर्तनपना भी है। वस्तु स्वयं ही अपनी पर्यायरूप से पलटती है, कोई दूसरा उसे परिवर्तित करे – ऐसा नहीं है।

नयी नयी पर्यायरूप होना, वह वस्तु का अपना स्वभाव है, तो कोई उसका क्या करेगा ? इन संयोगों से कारण यह पर्याय हुई – इसप्रकार संयोग के कारण जो पर्याय मानता है, उसेने वस्तु के परिणमनस्वभाव को नहीं जाना है, दो द्रव्यों को एक माना है। भाई! तू संयोग से न देख, वस्तुत्वभाव को देख। वस्तुस्वभाव ही ऐसा है कि वह

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नित्य एकरूप न रहे। द्रव्यरूप से एकरूप रहे; परन्तु पर्यायरूपसे एकरूप न रहे, पलटता ही रहे – ऐसा वस्तुस्वरूप है।

इन चार बोलों से ऐसा समझाया है कि वस्तु ही अपने परिणामरूप कार्य की कर्त्ता है – यह निश्चित सिद्धान्त है।

इस पुस्तक का पृष्ठ पहले ऐसा था और फिर पलट गया; वह हाथ लगने से पलटा हो – ऐसा नहीं है; परन्तु उन पृष्ठों के रजकणों में ही ऐसा स्वभाव है कि सदा एकरूप उनकी स्थिति न रहे, उनकी अवस्था बदलती रहती है; इसलये वे स्वयं पहली अवस्था छोड़कर दूसरो अवस्थारूप हुये हैं, दूसरे के कारण नहीं। वस्तु में भिन्न-भिन्न अवस्था होती ही रहती है; वहाँ संयोग के कारण वह भिन्न अवस्था हुई – ऐसा अज्ञानी का भ्रम है, क्योंकि वह संयोग को ही देखता है, परन्तु वस्तुस्वभाव को नहीं देखता। वस्तु स्वयं परिणमनस्वभावी है, इसलिये वह एक ही पर्यायरूप नहीं रहती – ऐसे स्वभाव को जाने तो किसी संयोग से अपने में या अपने से पर में परिवर्तन होने की बुद्धि छूट जाये और स्वद्रव्य की ओर देखना रहे, इसलिये मोक्षमार्ग प्रगट हो।

पानी पहले ठंडा था और चूल्हे पर आने के बाद गर्म हुआ; वहाँ उन रजकणों का ही ऐसा स्वभाव है कि उनकी सदा एक अवस्थारूप स्थिति न रहे; इसलये वे अपने स्वभाव से ही ठंडी अवस्था को छोड़कर गर्म अवस्थारूप परिणमित हुये हैं। इसप्रकार स्वभाव को न देखकर अज्ञानी संयोग को देखता है कि अग्नि के आने से पानी गर्म हुआ आचार्यदेव ने चार बोलों से स्वतन्त्र वस्तुस्वरूप समझाया है, उसे समझ ले तो कहीं भ्रम न रहे।

एकसमय में तीनकाल तीनलोक को जाननेवाले सर्वज्ञ परमात्मा वीतराग तीर्थंकरदेव की दिव्यध्वनि में आया हुआ यह तत्त्व है और सन्तों ने इसे प्रगट किया है।

बर्फ के संयोग से पानी ठंडा हुआ और अग्नि के संयोग से गर्म हुआ–ऐसा अज्ञानी देखता है, परन्तु पानी के रजकणों में ही ठंडा-गर्म अवस्थारूप परिणमित होने का स्वभाव है, उसे अज्ञानी नहीं देखता। भाई ! वस्तु का स्वरूप ऐसा हो है कि अवस्था की स्थिति एकरूप न रहे। वस्तु कूटस्थ नहीं हैं, परन्तु बहते हुए पानी की भाँति द्रवित होती है – पर्याय को प्रवाहित करती है, उस पर्याय का प्रवाह वस्तु में से आता है, संयोग में से नहीं आता। भिन्न प्रकार के संयोग के कारण अवस्था

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

की भिन्नता हुई अथवा संयोग बदले, इसलिये अवस्था बदल गई – ऐसा भ्रम अज्ञानी को होता है; परन्तु वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है। यहाँ चार बोलों द्वारा वस्तु का स्वरूप एकदम स्पष्ट किया है।

१. परिणाम ही कर्म है।

२. परिणामी वस्तु के ही परिणाम हैं, अन्य के नहीं।

३. वह परिणामरूपी कर्म कर्त्ता के बिना नहीं होता।

४. वस्तु की स्थिति एकरूप नहीं रहती।

इसलिये वस्तु स्वयं ही अपने परिणामरूप कर्म की कर्त्ता है – यह सिद्धांत है।

इन चारों बोलों में तो बहुत रहस्य भर दिया है। उसका निर्णय करने से भेदज्ञान तथा द्रव्यसन्मुखदृष्टि से मोक्षमार्ग प्रगट होगा।

प्रश्न :– संयोग के आने पर तदनुसार अवस्था बदलती दिखाई देती है न?

उत्तर :– यह बराबर नहीं है, वस्तुस्वभाव को देखने से ऐसा दिखायी नहीं देता, अवस्था बदलने का स्वभाव वस्तु का अपना है – ऐसा दिखायी देता है। कर्म का मंद उदय हो, इसलिये मन्द राग और तीव्र उदय हो, इसलिये तीव्र राग – ऐसा नहीं है। अवस्था एकरूप नहीं रहती, परन्तु अपनी योग्यता से मंद-तीव्ररूप से बदलती है – ऐसा स्वभाव वस्तु का अपना है, वह कहीं पर के कारण नहीं है।

भगवान के निकट जाकर पूजा करे या शास्त्रश्रवण करे, उससमय अलग परिणाम होते हैं और घर पहुँचने पर अलग परिणाम हो जाते हैं, तो क्या संयोग के कारण वे परिणाम बदले? नहीं; वस्तु एकरूप न रहकर उसके परिणाम बदलते रहें – ऐसा ही उसका स्वभाव है। उन परिणामों का बदलना वस्तु के आश्रय से ही होता है, संयोग के आश्रय से नहीं। इसप्रकार वस्तु स्वयं अपने परिणाम की कर्त्ता है – यह निश्चित सिद्धांत है।

इन चार बोलों के सिद्धांतानुसार वस्तुस्वरूप को समझे तो मिथ्यात्व की जड़ें उखड़ जायें और पराश्रितबुद्धि छूट जाये। ऐसे स्वभाव की प्रतीति होने से अखंड स्व-वस्तु पर लक्ष जाता है और सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है। सम्यग्ज्ञान परिणाम का कर्त्ता आत्मा स्वयं है। पहले

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अज्ञान परिणाम भी वस्तु के ही अश्रय से थे और अब ज्ञान परणाम हुये, वे भी वस्तु के ही आश्रय से हैं।

मेरी पर्याय का कर्त्ता दूसरा कोई नहीं है, मेरा द्रव्य परिणमित होकर मेरी पर्याय का कर्त्ता होता है – ऐसा निश्चय करने से स्वद्रव्य पर लक्ष जाता है और भेदज्ञान तथा सम्यग्ज्ञान होता है। अब, उस काल में चारित्रिदोष से कुछ रागादि परिणाम रहे, वे भी अशुद्धनिश्चयनय से आत्मा का परिणमन होने से आत्मा का कार्य है – ऐसा धर्मीजीव जानता है; उसे जानने की अपेक्षा से व्यवहार को उस काल में जाना हुआ प्रयोजनवान कहा है।

धर्मी को द्रव्य का शुद्ध स्वभाव लक्ष में आ गया है, इसलिये सम्यक्त्वादि नर्मल कार्य होते हैं और जो राग शेष रहा है, उसे भी वे अपना परिणमन जानते हैं; परन्तु अब उसकी मुख्यता नहीं है। मुख्यता तो स्वभाव की हो गई है। पहले अज्ञानदशा में मिथ्यात्वाद परिणाम थे, वे भी स्वद्रव्य के अशुद्ध उपादान के आश्रय से ही थे; परन्तु जब निश्चत किया कि मेरे परिणाम अपने द्रव्य के ही आश्रय से होते हैं, तब उस जीव को मिथ्यात्वपरिणाम नहीं रहते, उसे तो सम्यक्त्वादिरूप परिणाम ही होते हैं।

अब जो रागपरिणमन साधकपर्याय में शेष रहा है, उसमें यद्यपि उसे एकत्वबुद्धि नहीं है, तथापि वह परिणमन अपना है – ऐसा वह जानता है। ऐसा व्यवहार का ज्ञान उस काल का प्रयोजनवान है। सम्यग्ज्ञान होता है, तब निश्चय-व्यवहार का यथार्थ स्वरूप ज्ञात होता है, तब द्रव्य-पर्याय का स्वरूप ज्ञात होता है, तब कर्त्ता-कर्म का स्वरूप ज्ञात होता है और स्वद्रव्य के लक्ष से मोक्षमार्गरूप कार्य प्रगट होता है; उसका कर्त्ता आत्मा स्वयं है।

इसप्रकार इस २११ वें कलश में आचार्यदेव ने चार बोलों द्वारा स्पष्टरूप से अलौकिक वस्तुस्वरूप समझाया है; उसका विवेचन पूर्ण हुआ।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हमारे महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

१. समयसार
२. नियमसार
३. पंचास्तिकायसंग्रह
४. समयसार नाटक
५. मोक्षमार्गप्रकाशक
६. प्रवचनरत्नाकर भाग १ या २ या ३
७. ज्ञानगोष्ठी
८. भक्तामर प्रवचन
९. चिद्विलास
१०. जिनवरस्य नयचक्रम् (हिन्दी) साधारण
११. क्रमबद्धपर्याय (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल) साधारण
१२. धर्म के दशलक्षण (हि., गु., म., क., त., अं.) साधारण
१३. तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ (हि., गु., म., क, अं.)
१४. सत्य की खोज [कथानक] (हि., गु., म., क., त.) साधारण
१५. मैं कौन हूँ ?
१६. युगपुरुष श्री कानजी स्वामी (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल)
१७. परमार्थवचनिका
१८. अद्वितीय चक्षु
१९. लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशिका
२०. छहढाला (सचित्र)
२१. छहढाला (मूल)
२२. वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका
२३. तीर्थंकर भगवान महावीर (हि., गु., म., क., अ., ते., अं.)
२४. वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर (हिन्दी, गुजराती)
२५. गोम्मटेश्वर बाहुबली
२६. चैतन्य-चमत्कार
२७. वीर हिमाचल तैं निकसी
२८. अर्चना (पूजनसंग्रह)
२९. बालबोध पाठमाला भाग १ (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल)
३०. बालबोध पाठमाला भाग २ व ३ (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल)
३१. वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग १ (हिन्दी, गुजराती, मराठी)
३२. वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग २ या ३ (हिन्दी, गुजराती, मराठी)
३३. तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १ (हिन्दी, गुजराती)
३४. तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग २ (हिन्दी, गुजराती)
३५. महावीर वंदना या मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ (कैलेण्डर)

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com